तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत के विषय

(THEMES IN COMPARATIVE POLITICAL THEORY)

बी.ए. (प्रोग्राम) राजनीति विज्ञान

सेमेस्टर –VII

DISCIPLINE SPECIFIC ELECTIVE (DSE)

कोर्स क्रेडिट -4

As per the UGCF - 2022 and National Education Policy 2020

READING NOTES

विषय-सूची

क्र. सं.	शीर्षक	पृष्ठ सं.
इकाई-1	भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की विशिष्ट विशेषताएँ	1-25
इकाई-2	राज्यकला : मैकियावेली एवं कौटिल्य	26-44
इकाई-3	असमानता : रूसो एवं बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय	45-62
इकाई-4	भाग 1 – लोकतंत्र : जे. एस. मिल एवं डॉ. बी. आर. आंबेडकर	63-82
	भाग 2 – समाजवाद : मार्क्स एवं राममनोहर लोहिया	83-100

Printed at: Vikas Publishing House Pvt. Ltd. Plot 20/4, Site-IV, Industrial Area Sahibabad, Ghaziabad - 201 010 (1500 Copies) October 2026

भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की विशिष्ट विशेषताएँ

संरचना

1.1 प्रस्तावना
- राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ एवं स्वरूप
- तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत की आवश्यकता
- भारतीय एवं पाश्चात्य परंपराओं के तुलनात्मक अध्ययन का महत्व

1.2 तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत : अवधारणा एवं विकास
- तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ
- पारंपरिक राजनीतिक सिद्धांत और तुलनात्मक दृष्टिकोण
- यूरोकेंद्रवाद की आलोचना
- फ्रेड डलमायर एवं बहुलतावादी दृष्टिकोण
- उपनिवेशवाद, ज्ञान और वैकल्पिक परंपराएँ

1.3 पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताएँ
- यूनानी राजनीतिक परंपरा एवं तर्कवाद
- व्यक्तिवाद और उदारवाद
- धर्मनिरपेक्षता एवं लौकिक राजनीति
- सामाजिक संविदा एवं राज्य की वैधता
- आधुनिकता, विज्ञान एवं प्रगति की अवधारणा
- अधिकार, स्वतंत्रता एवं नागरिकता

1.4 भारतीय राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताएँ
- धर्म एवं राजनीति का संबंध
- राजधर्म और लोककल्याण
- कर्तव्यप्रधान दृष्टिकोण
- समुदाय एवं सामाजिक समरसता
- आध्यात्मिकता एवं नैतिक राजनीति
- परंपरा, संस्कृति एवं सामाजिक संरचना
- औपनिवेशिक अनुभव एवं आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन

1.5 भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन
- व्यक्ति बनाम समुदाय
- अधिकार बनाम कर्तव्य
- धर्मनिरपेक्षता बनाम धर्म-सापेक्ष राजनीति
- राज्य की अवधारणा
- नैतिकता एवं राजनीति

- ज्ञान, तर्क एवं आध्यात्मिकता
- आधुनिकता की भिन्न अवधारणाएँ

1.6 तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का समकालीन महत्व
- वैश्वीकरण एवं सांस्कृतिक संवाद
- उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श
- लोकतंत्र एवं बहुलतावाद
- वैश्विक दक्षिण और वैकल्पिक राजनीतिक चिंतन
- समकालीन भारत में प्रासंगिकता

1.7 निष्कर्ष

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.9 संदर्भ-सूची

1.1 प्रस्तावना

राजनीतिक सिद्धांत मानव समाज के संगठन, सत्ता, न्याय, अधिकार, कर्तव्य, राज्य, स्वतंत्रता तथा नैतिकता से संबंधित मूलभूत प्रश्नों का दार्शनिक एवं वैचारिक अध्ययन है। यह केवल राजनीतिक संस्थाओं का वर्णन नहीं करता, बल्कि यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि समाज कैसा होना चाहिए, राज्य की वैधता का आधार क्या है, सत्ता की सीमाएँ क्या होनी चाहिए तथा व्यक्ति और समुदाय के मध्य संबंध किस प्रकार निर्मित होते हैं। राजनीतिक सिद्धांत इस अर्थ में मानकात्मक (Normative) भी है और विश्लेषणात्मक (Analytical) भी।

राजनीतिक चिंतन का इतिहास वस्तुतः मानव सभ्यता के बौद्धिक विकास का इतिहास है। प्रत्येक सभ्यता ने अपने ऐतिहासिक अनुभवों, धार्मिक परंपराओं, आर्थिक संरचनाओं तथा सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर राजनीति की भिन्न अवधारणाएँ विकसित कीं। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का विकास मुख्यतः यूनानी नगर-राज्यों, रोमन विधि-व्यवस्था, पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार आंदोलनों, वैज्ञानिक क्रांति तथा औद्योगिक पूँजीवाद की पृष्ठभूमि में हुआ। दूसरी ओर भारतीय राजनीतिक चिंतन वैदिक परंपरा, धर्मशास्त्रों, बौद्ध एवं जैन विचारधाराओं, मौर्य शासन, भक्ति आंदोलन तथा औपनिवेशिक अनुभवों से निर्मित हुआ।

दीर्घकाल तक राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन में पश्चिमी चिंतकों को ही सार्वभौमिक मानक के रूप में प्रस्तुत किया गया। प्लेटो, अरस्तू, मैकियावेली, हॉब्स, लॉक, रूसो, हेगेल और मार्क्स जैसे विचारकों को राजनीतिक सिद्धांत की मुख्यधारा माना गया, जबकि भारतीय, चीनी, इस्लामी अथवा अफ्रीकी परंपराओं को सीमांत या "गैर-पाश्चात्य" कहकर अलग रखा गया। फ्रेड डलमायर ने अपनी प्रसिद्ध रचना ***Comparative Political Theory: What is it good for?*** में इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए कहा कि राजनीतिक सिद्धांत को वास्तव में वैश्विक संवाद का क्षेत्र होना चाहिए, न कि केवल यूरोपीय अनुभवों का बौद्धिक विस्तार।

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत इसी आवश्यकता से उत्पन्न हुआ। इसका उद्देश्य केवल दो परंपराओं की तुलना करना नहीं है, बल्कि यह समझना है कि विभिन्न सभ्यताओं ने सत्ता, नैतिकता, न्याय और समुदाय जैसे प्रश्नों को किस प्रकार समझा। एंड्रयू पेरेल ने *From Political Thought in India to Indian Political Thought* में यह तर्क दिया कि भारतीय राजनीतिक विचार को केवल धार्मिक ग्रंथों की परंपरा के रूप में नहीं देखा जा सकता। भारतीय चिंतन में राज्य, दण्ड, प्रशासन, लोककल्याण, सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक सत्ता के प्रश्नों पर गंभीर विमर्श मिलता है। कौटिल्य का *अर्थशास्त्र*, बौद्ध संघ की राजनीतिक अवधारणाएँ, अशोक के अभिलेख, भक्ति

आंदोलन की सामाजिक आलोचना तथा आधुनिक भारत में गांधी, आंबेडकर और लोहिया का चिंतन इस बात के प्रमाण हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के तुलनात्मक अध्ययन का महत्व समकालीन विश्व में और भी बढ़ गया है। आज का विश्व वैश्वीकरण, सांस्कृतिक बहुलता, पहचान की राजनीति, धार्मिक पुनरुत्थान, लोकतांत्रिक संकट तथा आर्थिक असमानता जैसी जटिल समस्याओं से जूझ रहा है। पश्चिमी उदारवाद की सार्वभौमिकता पर प्रश्न उठाए जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, यूरोप में बहुसंस्कृतिवाद पर संकट, पश्चिम एशिया में धार्मिक राजनीति का उदय, भारत में सामाजिक न्याय की राजनीति तथा लैटिन अमेरिका में समुदायवादी आंदोलनों ने यह स्पष्ट किया है कि एकमात्र राजनीतिक मॉडल संपूर्ण विश्व की व्याख्या नहीं कर सकता।

समकालीन भारतीय राजनीति में भी यह बहस महत्वपूर्ण है। भारतीय संविधान उदार लोकतंत्र, सामाजिक न्याय तथा बहुलतावाद के सिद्धांतों पर आधारित है, किन्तु भारतीय समाज की संरचना जाति, धर्म, भाषा और समुदाय जैसे तत्वों से निर्मित है। डॉ. भीमराव आंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि राजनीतिक लोकतंत्र तब तक स्थायी नहीं हो सकता जब तक सामाजिक लोकतंत्र स्थापित न हो। यह विचार पश्चिमी उदारवाद और भारतीय सामाजिक वास्तविकताओं के मध्य एक गहन संवाद को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार महात्मा गांधी ने *हिंद स्वराज* में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए नैतिक राजनीति, ग्राम स्वराज तथा आत्मसंयम पर बल दिया।

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन सामान्यतः व्यक्तिवाद, तर्कवाद और धर्मनिरपेक्षता पर आधारित माना जाता है, जबकि भारतीय राजनीतिक चिंतन को नैतिकता, समुदाय तथा धर्म-सापेक्ष सामाजिक व्यवस्था से जोड़ा जाता है। किन्तु यह विभाजन पूर्णतः सरल नहीं है। अरस्तू की *Politics* में समुदाय और नैतिक जीवन पर बल मिलता है, वहीं कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में अत्यंत यथार्थवादी राज्यकला दिखाई देती है। इसी प्रकार जॉन लॉक प्राकृतिक अधिकारों की बात करते हैं, तो बौद्ध परंपरा करुणा और सामाजिक दायित्व की। अतः तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य किसी एक परंपरा को श्रेष्ठ सिद्ध करना नहीं, बल्कि उनके अंतर्विरोधों, समानताओं तथा ऐतिहासिक संदर्भों को समझना है।

राजनीतिक सिद्धांत का अध्ययन तभी सार्थक हो सकता है जब उसे विविध परंपराओं के संवाद के रूप में देखा जाए। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत ज्ञान के लोकतंत्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। यह यूरोकेंद्रवाद की सीमाओं को चुनौती देता है तथा यह स्थापित करता है कि राजनीतिक बुद्धि केवल पश्चिम की बौद्धिक संपत्ति नहीं है। भारतीय और पाश्चात्य परंपराओं का तुलनात्मक अध्ययन न केवल अकादमिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि समकालीन लोकतांत्रिक समाजों की जटिलताओं को समझने के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

1.2 तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत : अवधारणा एवं विकास

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत समकालीन राजनीतिक चिंतन की एक महत्वपूर्ण बौद्धिक प्रवृत्ति है, जिसका उद्देश्य विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों तथा वैचारिक परंपराओं के मध्य संवाद स्थापित करना है। यह केवल राजनीतिक संस्थाओं अथवा शासन प्रणालियों की तुलना नहीं करता, बल्कि उन दार्शनिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक आधारों को समझने का प्रयास करता है जिन पर राजनीतिक अवधारणाएँ निर्मित होती हैं। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत इस मूल प्रश्न से आरंभ होता है कि क्या राजनीतिक ज्ञान सार्वभौमिक होता है अथवा वह विशेष ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अनुभवों से निर्मित होता है।

दीर्घकाल तक राजनीतिक सिद्धांत का अध्ययन मुख्यतः यूरोपीय अनुभवों पर आधारित रहा। पश्चिमी विश्वविद्यालयों में प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो, हेगेल तथा मार्क्स को राजनीतिक सिद्धांत की केंद्रीय धारा माना गया, जबकि भारतीय, चीनी, इस्लामी तथा अफ्रीकी चिंतन को **"गैर-पाश्चात्य"** कहकर सीमित कर दिया गया। इस प्रवृत्ति को यूरोकेंद्रवाद (Eurocentrism) कहा जाता है। यूरोकेंद्रवाद वह दृष्टिकोण है जिसमें यूरोप के ऐतिहासिक अनुभवों तथा राजनीतिक मूल्यों को सार्वभौमिक मान लिया जाता है।

फ्रेड डलमायर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कम्पेरेटिव पॉलिटिकल थ्योरी: व्हाट इज़ इट गुड फ़ॉर?' (*Comparative Political Theory: What is it good for?*) में इस यूरोकेंद्रिक प्रवृत्ति की गंभीर आलोचना की। डलमायर के अनुसार आधुनिक विश्व बहुसांस्कृतिक और बहुध्रुवीय है, अतः राजनीतिक सिद्धांत को भी बहुलतावादी होना चाहिए। उनके अनुसार तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का उद्देश्य केवल "पूर्व" और "पश्चिम" की तुलना करना नहीं, बल्कि विभिन्न बौद्धिक परंपराओं के मध्य संवाद स्थापित करना है। वे इसे "संवादी चिंतन" (Dialogical Thinking) के रूप में देखते हैं।

डलमायर यह भी स्पष्ट करते हैं कि राजनीतिक अवधारणाएँ शून्य में उत्पन्न नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, पश्चिम में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अवधारणा मध्यकालीन चर्च की सत्ता, पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार आंदोलन तथा औद्योगिक पूँजीवाद की पृष्ठभूमि में विकसित हुई। इसके विपरीत भारतीय राजनीतिक चिंतन सामाजिक कर्तव्य, धर्म, समुदाय तथा नैतिक सत्ता की अवधारणाओं से निर्मित हुआ। अतः दोनों परंपराओं के बीच अंतर केवल विचारों का नहीं, बल्कि ऐतिहासिक अनुभवों का भी अंतर है।

एंथनी जे. पेरेल ने अपनी रचना '**फ्रॉम पॉलिटिकल थॉट इन इंडिया टू इंडियन पॉलिटिकल थॉट**' (*From Political Thought in India to Indian Political Thought*) में यह तर्क दिया कि भारतीय राजनीतिक चिंतन को लंबे समय तक गलत ढंग से समझा गया। औपनिवेशिक विद्वानों ने यह धारणा बनाई कि भारत में राजनीति धर्म के अधीन थी और यहाँ स्वतंत्र राजनीतिक चिंतन विकसित नहीं हुआ। किन्तु पेरेल इस दृष्टिकोण का खंडन करते हैं। वे बताते हैं कि कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) राज्य, शक्ति, कर-व्यवस्था, गुप्तचर प्रणाली तथा अंतरराष्ट्रीय संबंधों का अत्यंत विकसित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार बौद्ध संघ की संगठनात्मक संरचना, अशोक के धम्मादेश तथा मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में भी गहन राजनीतिक तत्व मौजूद हैं।

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का विकास उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन (Postcolonial Studies) से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। एडवर्ड सईद की प्रसिद्ध कृति '**ओरिएंटलिज़्म**' (*Orientalism*) ने यह दिखाया कि पश्चिम ने "पूर्व" की ऐसी छवि निर्मित की जो उसे पिछड़ा, रहस्यमय तथा अवैज्ञानिक सिद्ध करती थी। इस प्रकार ज्ञान स्वयं सत्ता का उपकरण बन गया। मिशेल फूको ने भी ज्ञान और सत्ता के संबंधों की चर्चा करते हुए कहा कि जो समाज ज्ञान का निर्माण करता है, वही सत्य की परिभाषा भी नियंत्रित करता है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन के संदर्भ में यह बहस अत्यंत महत्वपूर्ण है। औपनिवेशिक शासन के दौरान अंग्रेज विद्वानों ने यह तर्क दिया कि भारत में लोकतंत्र, नागरिकता तथा समानता जैसी अवधारणाएँ नहीं थीं। जेम्स मिल ने अपनी पुस्तक '**हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया**' (***History of British India***) में भारतीय समाज को निरंकुश और स्थिर बताया। इसके विपरीत आधुनिक भारतीय चिंतकों ने इस दृष्टिकोण को चुनौती दी।

महात्मा गांधी ने '**हिंद स्वराज**' (***Hind Swaraj***) में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए यह कहा कि केवल भौतिक प्रगति मानव मुक्ति का आधार नहीं हो सकती। गांधी के लिए राजनीति का उद्देश्य नैतिक

आत्मशासन था। दूसरी ओर डॉ. भीमराव आंबेडकर ने उदार लोकतंत्र, संवैधानिकता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को भारतीय समाज की जातिगत संरचना के साथ जोड़कर देखा। उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि सामाजिक समानता नहीं होगी तो राजनीतिक लोकतंत्र खोखला सिद्ध होगा।

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि यह राजनीतिक अवधारणाओं की बहुविध व्याख्याओं को स्वीकार करता है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी उदारवाद स्वतंत्रता को मुख्यतः व्यक्ति की स्वायत्तता के रूप में देखता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 'ऑन लिबर्टी' (*On Liberty*) में व्यक्ति की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को लोकतंत्र की आधारशिला माना। इसके विपरीत भारतीय परंपरा में स्वतंत्रता का संबंध आत्मसंयम, नैतिक अनुशासन तथा सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ा गया। गांधी के लिए सच्ची स्वतंत्रता इच्छाओं पर नियंत्रण में निहित थी। इसी प्रकार राज्य की अवधारणा भी दोनों परंपराओं में भिन्न रूपों में विकसित हुई। थॉमस हॉब्स ने 'लेवायथन' (*Leviathan*) में राज्य को अराजकता से सुरक्षा प्रदान करने वाली सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। इसके विपरीत भारतीय परंपरा में राज्य को केवल दमनकारी शक्ति नहीं, बल्कि लोककल्याण तथा धर्मरक्षा के साधन के रूप में भी देखा गया। कौटिल्य के अनुसार राजा का प्रमुख दायित्व प्रजा की रक्षा तथा समृद्धि सुनिश्चित करना था।

समकालीन विश्व में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का महत्व और अधिक बढ़ गया है। वैश्वीकरण ने विभिन्न समाजों को परस्पर निकट ला दिया है, किन्तु इसके साथ सांस्कृतिक संघर्ष तथा पहचान की राजनीति भी उभरी है। पश्चिम एशिया में धार्मिक राजनीति का पुनरुत्थान, यूरोप में प्रवासी संकट, भारत में सामाजिक न्याय और बहुसंख्यकवाद की बहसें, तथा अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में समुदाय आधारित आंदोलनों का उदय यह संकेत देता है कि राजनीति को केवल पश्चिमी उदारवाद के ढाँचे में नहीं समझा जा सकता।

इक्कीसवीं शताब्दी में लोकतंत्र, मानवाधिकार, विकास तथा न्याय जैसे प्रश्न वैश्विक बहसों का केंद्र बने हुए हैं। किन्तु इन अवधारणाओं की व्याख्या विभिन्न समाजों में भिन्न रूपों में होती है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी उदार लोकतंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देता है, जबकि अनेक एशियाई समाज सामाजिक सामंजस्य और सामुदायिक उत्तरदायित्व को अधिक महत्व देते हैं। इसी कारण अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक '**द आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन**' (***The Argumentative Indian***) में यह तर्क दिया कि भारतीय परंपरा में भी सार्वजनिक बहस तथा वैचारिक बहुलता की समृद्ध विरासत मौजूद है।

अतः तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत केवल एक अकादमिक अभ्यास नहीं है। यह ज्ञान की बहुलता को स्वीकार करने का प्रयास है। इसका उद्देश्य विभिन्न परंपराओं को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करना नहीं, बल्कि उनके मध्य संवाद स्थापित करना है। यह दृष्टिकोण राजनीतिक सिद्धांत को अधिक समावेशी, बहुलतावादी तथा वैश्विक बनाता है।

1.3 पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताएँ

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का विकास एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। इसे किसी एक विचारक, एक देश या एक युग तक सीमित नहीं किया जा सकता। इसका आरंभ प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों से होता है, फिर यह रोमन विधि-परंपरा, ईसाई मध्ययुगीन धर्मशास्त्र, पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार आंदोलन, ज्ञानोदय, उदारवाद, राष्ट्र-राज्य, औद्योगिक पूँजीवाद, समाजवाद और आधुनिक लोकतंत्र तक विस्तृत होता है। इस संपूर्ण विकासक्रम में कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ निरंतर दिखाई देती हैं, जैसे तर्कवाद, व्यक्तिवाद, राज्य और नागरिकता की

अवधारणा, धर्मनिरपेक्षता, विधि का शासन, अधिकारों की राजनीति, स्वतंत्रता, समानता और आधुनिकता की धारणा।

1.3.1 यूनानी राजनीतिक परंपरा और तर्कवाद

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की बौद्धिक नींव प्राचीन यूनान में मिलती है। यूनानी नगर-राज्य, जिन्हें पोलिस कहा जाता था, राजनीतिक जीवन के आरंभिक प्रयोगशाला के समान थे। एथेंस जैसे नगर-राज्यों में नागरिकता, प्रत्यक्ष लोकतंत्र, वाद-विवाद, सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक सहभागिता की परंपरा विकसित हुई। यहीं से राजनीति को अंधविश्वास या मिथकीय व्याख्या से अलग करके तर्क, नैतिकता और सार्वजनिक विचार-विमर्श के क्षेत्र के रूप में समझना आरंभ हुआ।

सुकरात ने राजनीति और नैतिकता को गहराई से जोड़ा। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि न्याय क्या है, अच्छा जीवन क्या है और एक नागरिक का कर्तव्य क्या होना चाहिए। सुकरात की विधि प्रश्नोत्तर और आलोचनात्मक चिंतन पर आधारित थी। उन्होंने यह स्थापित किया कि राजनीतिक जीवन केवल शक्ति का प्रश्न नहीं है, बल्कि नैतिक आत्मपरीक्षण का भी प्रश्न है।

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' (*Republic*) में न्यायपूर्ण राज्य की कल्पना प्रस्तुत की। उनके अनुसार राज्य का उद्देश्य केवल व्यवस्था बनाए रखना नहीं, बल्कि नागरिकों में सद्गुण का विकास करना है। प्लेटो का आदर्श राज्य दार्शनिक-राजा की अवधारणा पर आधारित है, जिसके अनुसार शासन उन्हीं के हाथ में होना चाहिए जिनके पास ज्ञान और नैतिक विवेक हो। आधुनिक लोकतांत्रिक दृष्टि से प्लेटो की आलोचना की जाती है क्योंकि उनकी व्यवस्था अभिजनवादी प्रतीत होती है, किन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने राजनीति को ज्ञान, न्याय और नैतिकता से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' (*Politics*) में राजनीति का अधिक व्यावहारिक और तुलनात्मक अध्ययन किया। उन्होंने विभिन्न संविधानों और शासन-प्रणालियों की तुलना की तथा यह कहा कि मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक प्राणी है। इसका अर्थ है कि मनुष्य का पूर्ण विकास समाज और राजनीतिक समुदाय के भीतर ही संभव है। अरस्तू के लिए राज्य केवल सुरक्षा प्रदान करने वाली संस्था नहीं था, बल्कि अच्छे जीवन की प्राप्ति का साधन था। वे राजनीति को नैतिकता का विस्तार मानते थे।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक बहस उत्पन्न होती है। आधुनिक पश्चिमी चिंतन में व्यक्ति को राज्य से स्वतंत्र सत्ता माना गया, जबकि अरस्तू के लिए व्यक्ति का अस्तित्व समुदाय से जुड़ा हुआ था। इस अर्थ में प्राचीन यूनानी चिंतन आधुनिक उदार व्यक्तिवाद से भिन्न था। यह बिंदु तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारतीय चिंतन में भी व्यक्ति को समुदाय, धर्म और कर्तव्य के संदर्भ में समझा गया। अतः पश्चिमी चिंतन को केवल व्यक्तिवादी कह देना ऐतिहासिक रूप से अधूरा होगा।

1.3.2 रोमन विधि और नागरिकता की परंपरा

यूनानी चिंतन ने राजनीति को तर्क और नैतिकता से जोड़ा, जबकि रोमन परंपरा ने विधि, नागरिकता और संस्थागत शासन की अवधारणाओं को विकसित किया। रोमन साम्राज्य ने विशाल भूभाग पर शासन किया और इस कारण विधि तथा प्रशासन का महत्त्व बढ़ा। रोमन विधि ने नागरिक अधिकार, संपत्ति, अनुबंध, दायित्व और विधिक व्यक्तित्व जैसी अवधारणाओं को व्यवस्थित रूप दिया। सिसरो जैसे विचारकों ने प्राकृतिक विधि की अवधारणा को विकसित किया। उनके अनुसार एक उच्चतर नैतिक विधि है जो मानव निर्मित विधियों से ऊपर है। बाद के काल में यह विचार ईसाई धर्मशास्त्र, मध्ययुगीन न्याय-विचार, और आधुनिक प्राकृतिक अधिकार सिद्धांत को

प्रभावित करता है। जॉन लॉक के प्राकृतिक अधिकार, मानवाधिकार की आधुनिक अवधारणा तथा संवैधानिक शासन की धारणा में रोमन विधि और प्राकृतिक विधि की गहरी छाप दिखाई देती है।

रोमन परंपरा ने यह विचार भी स्थापित किया कि राज्य केवल किसी राजा की निजी संपत्ति नहीं है। राज्य एक सार्वजनिक व्यवस्था है। इसी से "रिपब्लिक" अर्थात् सार्वजनिक वस्तु की धारणा विकसित हुई। आधुनिक गणराज्य, नागरिकता और विधि के शासन की अवधारणा पर इसका स्थायी प्रभाव पड़ा।

1.3.3 मध्ययुगीन ईसाई चिंतन और धर्म-राजनीति संबंध

मध्ययुगीन यूरोप में राजनीतिक चिंतन पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव था। चर्च केवल धार्मिक संस्था नहीं था, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन का केंद्र भी था। इस युग में प्रमुख प्रश्न यह था कि आध्यात्मिक सत्ता और राजनीतिक सत्ता का संबंध क्या होना चाहिए।

संत ऑगस्टीन ने **'द सिटी ऑफ गॉड' (*The City of God*)** में ईश्वरीय नगर और सांसारिक नगर के बीच अंतर किया। उनके अनुसार सांसारिक राज्य अपूर्ण है क्योंकि मनुष्य पापपूर्ण प्रकृति वाला है। राज्य की आवश्यकता इसलिए है कि वह व्यवस्था बनाए रखे और मनुष्य की हिंसक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करे। इस दृष्टि में राजनीति का मूल्य है, लेकिन वह अंतिम मुक्ति का साधन नहीं है। संत थॉमस एक्विनास ने अरस्तू की राजनीतिक परंपरा और ईसाई धर्मशास्त्र को मिलाने का प्रयास किया। उनकी रचना **'सुम्मा थियोलॉजिका' (*Summa Theologica*)** में प्राकृतिक विधि और ईश्वरीय विधि के संबंध की चर्चा मिलती है। एक्विनास के अनुसार राज्य प्राकृतिक संस्था है और मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वे यह भी मानते हैं कि विधि का नैतिक आधार होना चाहिए।

यहाँ पाश्चात्य चिंतन में एक गहरी बहस दिखाई देती है। क्या राजनीति धर्म के अधीन होनी चाहिए? क्या राज्य की वैधता ईश्वर से आती है या जनता की सहमति से? मध्ययुगीन यूरोप में चर्च और राज्य के संघर्ष ने आगे चलकर आधुनिक धर्मनिरपेक्षता, संप्रभु राज्य और नागरिक सत्ता की अवधारणा को जन्म दिया। यही ऐतिहासिक संघर्ष पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता की पृष्ठभूमि बना। भारतीय संदर्भ में यह बिंदु विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। भारत में धर्म और राजनीति का संबंध यूरोप जैसा चर्च बनाम राज्य वाला संबंध नहीं था। यहाँ धर्म का अर्थ केवल मजहबी संस्था नहीं, बल्कि सामाजिक नैतिक व्यवस्था, कर्तव्य और जीवन-पद्धति से भी जुड़ा था। इसीलिए पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता को भारतीय संदर्भ में सीधे लागू करना बौद्धिक रूप से जटिल प्रश्न है।

1.3.4 पुनर्जागरण, मैकियावेली और आधुनिक राजनीतिक यथार्थवाद

पुनर्जागरण ने पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन को निर्णायक रूप से बदल दिया। इस युग में मनुष्य, तर्क, कला, विज्ञान और सांसारिक जीवन के प्रति नया विश्वास विकसित हुआ। राजनीति को धीरे-धीरे धर्मशास्त्र से अलग करके स्वतंत्र अध्ययन-विषय के रूप में देखा जाने लगा।

निकोलो मैकियावेली इस परिवर्तन के सबसे महत्त्वपूर्ण विचारक हैं। उनकी रचना 'द प्रिंस' (*The Prince*) आधुनिक राजनीतिक यथार्थवाद की आधारभूत पुस्तक मानी जाती है। मैकियावेली ने राजनीति को वैसा समझने का प्रयास किया जैसी वह वास्तविकता में है, न कि वैसी जैसी नैतिक आदर्शों में होनी चाहिए। उनके लिए राज्य की सुरक्षा, शक्ति-संतुलन और सत्ता-संरक्षण राजनीति के केंद्रीय प्रश्न थे।

मैकियावेली ने यह नहीं कहा कि नैतिकता का कोई महत्त्व नहीं है, बल्कि उन्होंने यह दिखाया कि राजनीतिक क्षेत्र की अपनी स्वायत्त तर्कप्रणाली होती है। शासक को केवल नैतिक उपदेशों के आधार पर नहीं, बल्कि परिस्थिति,

शक्ति-संबंध और राज्यहित के आधार पर निर्णय लेना होता है। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक राजनीति का पहला यथार्थवादी विचारक कहा जाता है।

यहाँ कौटिल्य से तुलना की संभावना भी उत्पन्न होती है। कौटिल्य का **'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*)** भी राज्य की सुरक्षा, दण्डनीति, गुप्तचर व्यवस्था, कर-प्रणाली और मंडल सिद्धांत पर बल देता है। दोनों विचारकों में राजनीतिक यथार्थवाद दिखाई देता है, किन्तु उनके ऐतिहासिक संदर्भ भिन्न हैं। मैकियावेली इटली के विखंडित नगर-राज्यों और यूरोपीय सत्ता-संघर्ष के युग में लिख रहे थे, जबकि कौटिल्य मौर्य साम्राज्य के निर्माण और स्थिर शासन की पृष्ठभूमि में सोच रहे थे।

मैकियावेली का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने राजनीति को धर्म और परंपरागत नैतिकता से आंशिक रूप से स्वतंत्र किया। इसी से आधुनिक राज्य की अवधारणा को बल मिला।

1.3.5 सामाजिक संविदा, संप्रभुता और राज्य की वैधता

आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की एक केंद्रीय विशेषता सामाजिक संविदा सिद्धांत है। इस परंपरा में हॉब्स, लॉक और रूसो प्रमुख विचारक हैं। इन तीनों ने यह प्रश्न उठाया कि राज्य क्यों आवश्यक है और नागरिकों को उसकी आज्ञा क्यों माननी चाहिए।

थॉमस हॉब्स ने **'लेवायथन' (*Leviathan*)** में प्राकृतिक अवस्था को भय, असुरक्षा और संघर्ष की अवस्था के रूप में वर्णित किया। उनके अनुसार मनुष्य स्वभावतः आत्मरक्षा और स्वार्थ से प्रेरित है। यदि कोई सर्वोच्च सत्ता न हो तो जीवन "एकाकी, निर्धन, घृणित, क्रूर और अल्पकालिक" हो जाएगा। इसलिए लोग अपनी स्वतंत्रता का बड़ा भाग एक संप्रभु सत्ता को सौंपते हैं। हॉब्स के लिए राज्य की वैधता सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता से आती है।

जॉन लॉक ने **'टू ट्रीटीज़ ऑफ गवर्नमेंट' (*Two Treatises of Governme*nt)** में राज्य को सीमित सत्ता के रूप में देखा। उनके अनुसार प्राकृतिक अवस्था पूर्ण अराजकता नहीं थी, बल्कि उसमें प्राकृतिक अधिकार मौजूद थे। मनुष्य जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के प्राकृतिक अधिकारों से युक्त है। राज्य का निर्माण इन अधिकारों की रक्षा के लिए किया गया है। यदि राज्य अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो जनता को विद्रोह का अधिकार है। लॉक के विचारों ने उदारवाद, संवैधानिक शासन और आधुनिक लोकतंत्र को गहराई से प्रभावित किया।

जाँ-जाक रूसो ने **'द सोशल कॉन्ट्रैक्ट' (*The Social Contract*)** में स्वतंत्रता और सामूहिक इच्छा का प्रश्न उठाया। उन्होंने प्रसिद्ध वाक्य लिखा कि "मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है, परंतु हर जगह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।" रूसो के अनुसार वैध राज्य वही है जिसमें जनता स्वयं विधि-निर्माता हो। उनकी सामान्य इच्छा की अवधारणा ने लोकतांत्रिक संप्रभुता को नया आधार दिया।

इन तीनों विचारकों के बीच गहरी बहस है। हॉब्स सुरक्षा को प्राथमिकता देते हैं, लॉक अधिकार और संपत्ति को, जबकि रूसो नैतिक स्वतंत्रता और सामूहिक स्वशासन को। इस बहस से आधुनिक राजनीति के तीन बड़े प्रश्न निकलते हैं: राज्य की शक्ति कितनी होनी चाहिए, व्यक्ति की स्वतंत्रता की सीमा क्या है, और जनता की इच्छा का स्वरूप क्या है?

1.3.6 व्यक्तिवाद और उदारवाद

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की एक प्रमुख विशेषता व्यक्तिवाद है। आधुनिक यूरोप में व्यक्ति को सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक बंधनों से स्वतंत्र नैतिक इकाई के रूप में समझा जाने लगा। पुनर्जागरण ने मानव-केंद्रित दृष्टि को बल दिया, धार्मिक सुधार आंदोलन ने व्यक्तिगत अंतरात्मा को महत्त्व दिया, और उदारवाद ने व्यक्ति के

अधिकारों को राजनीति का केंद्र बनाया। जॉन लॉक को उदार व्यक्तिवाद का एक प्रमुख आधार माना जाता है। उनके अनुसार व्यक्ति राज्य से पूर्व है और उसके पास प्राकृतिक अधिकार हैं। राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं। आगे चलकर जॉन स्टुअर्ट मिल ने '**ऑन लिबर्टी' (*On Liberty*)** में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अत्यंत प्रभावशाली रक्षा की। मिल के अनुसार समाज या राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता में तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक वह दूसरों को हानि नहीं पहुँचा रहा हो। इसे हानि सिद्धांत कहा जाता है।

मिल ने विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को विशेष महत्त्व दिया। उनका तर्क था कि यदि कोई विचार गलत भी है, तो भी उसे व्यक्त होने देना चाहिए, क्योंकि सत्य और असत्य के संघर्ष से ही ज्ञान विकसित होता है। यदि कोई विचार सही है और उसे दबा दिया जाता है, तो मानवता सत्य से वंचित हो जाती है। यदि वह गलत है, तो उसके खंडन से सत्य अधिक स्पष्ट होता है।

किन्तु उदार व्यक्तिवाद की आलोचना भी हुई। मार्क्सवादी विचारकों ने कहा कि उदारवाद केवल औपचारिक स्वतंत्रता देता है, वास्तविक आर्थिक समानता नहीं। नारीवादी विचारकों ने दिखाया कि उदारवाद का "व्यक्ति" अक्सर पुरुष, संपत्तिधारी और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय नागरिक था। समुदायवादी विचारकों, जैसे माइकल सैंडल और चार्ल्स टेलर, ने तर्क दिया कि व्यक्ति को समुदाय से काटकर समझना गलत है।

भारतीय संदर्भ में यह बहस और अधिक जटिल हो जाती है। भारतीय समाज में व्यक्ति की पहचान जाति, परिवार, धर्म, भाषा और समुदाय से गहराई से जुड़ी होती है। इसलिए यहाँ स्वतंत्रता का प्रश्न केवल राज्य बनाम व्यक्ति का प्रश्न नहीं है। यह सामाजिक संरचनाओं से मुक्ति का प्रश्न भी है। आंबेडकर ने इसीलिए केवल राजनीतिक अधिकारों से संतुष्ट न होकर सामाजिक लोकतंत्र और जाति-विनाश की बात की।

1.3.7 धर्मनिरपेक्षता और लौकिक राजनीति

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में धर्मनिरपेक्षता एक केंद्रीय अवधारणा के रूप में विकसित हुई। इसका ऐतिहासिक आधार यूरोप में चर्च और राज्य के संघर्ष, धार्मिक युद्धों और सुधार आंदोलन में मिलता है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट संघर्षों ने यह प्रश्न उत्पन्न किया कि यदि राज्य किसी एक धर्म से बँधा रहेगा तो नागरिक शांति कैसे संभव होगी। इस संदर्भ में आधुनिक धर्मनिरपेक्षता का विकास हुआ। इसका मूल उद्देश्य था कि राज्य धार्मिक संघर्षों से ऊपर उठकर नागरिक व्यवस्था और विधि पर आधारित हो। जॉन लॉक ने **'ए लेटर कन्सर्निंग टॉलरशन'** (*A Letter Concerning Toleration*) में धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन किया। आगे चलकर आधुनिक उदार लोकतंत्रों में धर्म और राज्य के पृथक्करण की अवधारणा विकसित हुई।

फिर भी पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता एकरूप नहीं है। फ्रांस में धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप कठोर है, जिसे लैसिटे कहा जाता है। अमेरिका में राज्य किसी धर्म की स्थापना नहीं कर सकता, लेकिन सार्वजनिक जीवन में धार्मिक अभिव्यक्ति पूरी तरह निषिद्ध नहीं है। ब्रिटेन में औपचारिक रूप से चर्च ऑफ इंग्लैंड मौजूद है, फिर भी वहाँ उदार लोकतांत्रिक व्यवस्था है। इससे स्पष्ट होता है कि धर्मनिरपेक्षता भी ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों के अनुसार बदलती है।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता इससे भिन्न है। भारत में धर्म का सार्वजनिक जीवन से पूर्ण पृथक्करण नहीं हुआ। यहाँ राज्य सभी धर्मों के प्रति समान सम्मान और कभी-कभी सुधारात्मक हस्तक्षेप की नीति अपनाता है। उदाहरण के लिए, अस्पृश्यता-निषेध, मंदिर प्रवेश, व्यक्तिगत विधि, अल्पसंख्यक अधिकार और धर्म-स्वतंत्रता के प्रश्न भारतीय धर्मनिरपेक्षता को विशिष्ट बनाते हैं।

इस तुलना से स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में धर्मनिरपेक्षता का विकास धार्मिक संघर्षों से नागरिक शांति की खोज के रूप में हुआ, जबकि भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता बहुधार्मिक समाज में न्यायपूर्ण सहअस्तित्व की परियोजना है।

1.3.8 अधिकार, स्वतंत्रता और नागरिकता

आधुनिक पाश्चात्य चिंतन ने अधिकारों की भाषा को अत्यंत प्रभावशाली बनाया। प्राकृतिक अधिकार, मानवाधिकार, नागरिक अधिकार और राजनीतिक अधिकार आधुनिक राज्य और लोकतंत्र के आधार बने। अमेरिकी स्वतंत्रता घोषणा, फ्रांसीसी क्रांति की 'डिक्लेरेशन ऑफ द राइट्स ऑफ मैन एंड ऑफ द सिटिजन' (*Declaration of the Rights of Man and of the Citizen*) तथा आधुनिक संविधानों ने अधिकारों को राजनीतिक वैधता का केंद्र बनाया।

लॉक ने जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति को प्राकृतिक अधिकार माना। बाद में उदार लोकतांत्रिक परंपरा में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता, सभा की स्वतंत्रता, समान विधिक संरक्षण और प्रतिनिधित्व को नागरिक अधिकारों के रूप में विकसित किया गया। टी. एच. मार्शल ने नागरिकता को तीन चरणों में समझाया: नागरिक अधिकार, राजनीतिक अधिकार और सामाजिक अधिकार। उनके अनुसार आधुनिक लोकतांत्रिक नागरिकता केवल मतदान का अधिकार नहीं है, बल्कि शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा जैसे अधिकारों से भी जुड़ी है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बहस है। क्या अधिकारों की भाषा पर्याप्त है? मार्क्स ने 'ऑन द ज्यूइश क्वेश्चन' (*On the Jewish Question*) में उदार अधिकारों की आलोचना करते हुए कहा कि ये अधिकार मनुष्य को समाज से अलग निजी व्यक्ति के रूप में देखते हैं। वे समानता की औपचारिक घोषणा करते हैं, परंतु आर्थिक विषमता को समाप्त नहीं करते। इसी प्रकार नारीवादी विचारकों ने दिखाया कि अधिकारों का प्रारंभिक ढाँचा महिलाओं, श्रमिकों, उपनिवेशित समाजों और नस्ली समूहों को समान रूप से शामिल नहीं करता था।

इसका अर्थ यह नहीं कि अधिकारों की अवधारणा महत्वहीन है। बल्कि यह बताता है कि अधिकारों की अवधारणा स्वयं संघर्षों से विकसित हुई। मजदूर आंदोलनों, नारीवादी आंदोलनों, दासता-विरोधी आंदोलनों, नागरिक अधिकार आंदोलनों और उपनिवेश-विरोधी संघर्षों ने अधिकारों को अधिक व्यापक बनाया।

भारतीय संविधान इसी वैश्विक अधिकार-परंपरा से संवाद करता है, लेकिन उसे भारतीय सामाजिक न्याय की आवश्यकताओं के अनुसार रूपांतरित करता है। मौलिक अधिकारों के साथ-साथ नीति-निर्देशक तत्त्व, आरक्षण, अस्पृश्यता उन्मूलन और अल्पसंख्यक अधिकार इस बात के उदाहरण हैं कि भारत में अधिकार केवल उदार स्वतंत्रता तक सीमित नहीं रहे, बल्कि सामाजिक न्याय से भी जुड़े।

1.3.9 आधुनिकता, विज्ञान और प्रगति की अवधारणा

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन पर आधुनिकता का गहरा प्रभाव है। आधुनिकता का अर्थ केवल समय की नवीनता नहीं है, बल्कि एक विशिष्ट बौद्धिक दृष्टिकोण है जिसमें तर्क, विज्ञान, मानव-केंद्रितता, प्रगति, व्यक्तिवाद और संस्थागत परिवर्तन पर बल दिया जाता है। वैज्ञानिक क्रांति और ज्ञानोदय ने यह विश्वास उत्पन्न किया कि मनुष्य तर्क और विज्ञान के माध्यम से प्रकृति और समाज दोनों को समझ सकता है।

ज्ञानोदय चिंतकों जैसे कांट, वोल्टेयर और मोंतेस्क्यू ने तर्क, स्वतंत्रता और आलोचनात्मक विवेक को महत्त्व दिया। कांट ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'व्हाट इज़ एनलाइटनमेंट?' (*What is Enlightenment?*) में ज्ञानोदय को

मनुष्य की स्वनिर्मित अपरिपक्वता से मुक्ति बताया। इसका अर्थ था कि मनुष्य को परंपरा, अंधविश्वास और बाहरी प्राधिकार से मुक्त होकर स्वयं विचार करना चाहिए।

मोंतेस्क्यू ने 'द स्पिरिट ऑफ लॉज़' (*The Spirit of Laws*) में सत्ता-विभाजन का सिद्धांत प्रस्तुत किया। यह आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र का आधार बना। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का पृथक्करण निरंकुश सत्ता को रोकने का उपाय माना गया। इस विचार का प्रभाव अमेरिका, फ्रांस और आगे चलकर अनेक आधुनिक संविधानों पर पड़ा।

किन्तु आधुनिकता की आलोचना भी हुई। गांधी ने 'हिंद स्वराज' (*Hind Swaraj*) में आधुनिक सभ्यता को भौतिकवादी, मशीन-केंद्रित और नैतिक रूप से रिक्त बताया। मार्क्स ने पूँजीवादी आधुनिकता की आलोचना करते हुए कहा कि यह उत्पादन-शक्ति तो बढ़ाती है, लेकिन श्रमिक को उसके श्रम, उत्पाद और मानवीय सार से विमुख कर देती है। उत्तर-आधुनिक विचारकों ने भी आधुनिकता के सार्वभौमिक दावों पर प्रश्न उठाए।

इसलिए पाश्चात्य चिंतन में आधुनिकता एक सरल विजय-कथा नहीं है। यह स्वतंत्रता, विज्ञान और लोकतंत्र की परंपरा भी है, और उपनिवेशवाद, पूँजीवादी शोषण तथा सांस्कृतिक वर्चस्व की आलोचना का विषय भी।

1.3.10 समाजवाद, वर्ग और पूँजीवाद की आलोचना

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की एक अन्य प्रमुख धारा समाजवाद और मार्क्सवाद है। औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोप में पूँजीवाद का तीव्र विकास हुआ। कारखानों, शहरीकरण, मजदूर वर्ग और आर्थिक असमानता ने आधुनिक राजनीति की दिशा बदल दी। उदारवाद ने व्यक्ति की स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार पर बल दिया, परंतु औद्योगिक समाज में यह प्रश्न उठा कि क्या केवल विधिक समानता पर्याप्त है।

कार्ल मार्क्स ने 'दास कैपिटल' (*Das Kapital*) और 'द कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' (*The Communist Manifesto*) में पूँजीवाद की गहन आलोचना प्रस्तुत की। उनके अनुसार इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है। पूँजीवादी समाज में मुख्य संघर्ष बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच होता है। पूँजीपति उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखते हैं, जबकि मजदूर अपना श्रम बेचने को विवश होता है।

मार्क्स का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत विमुखीकरण है। औद्योगिक पूँजीवाद में श्रमिक अपने श्रम के उत्पाद से, श्रम-प्रक्रिया से, अपनी मानवीय सृजनशीलता से और अन्य मनुष्यों से अलग हो जाता है। इस प्रकार पूँजीवाद केवल आर्थिक शोषण नहीं करता, बल्कि मनुष्य की मानवता को भी प्रभावित करता है।

मार्क्सवाद ने पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में समानता, वर्ग, शोषण और क्रांति की बहस को केंद्रीय बनाया। उदारवाद जहाँ राज्य को सीमित करने और व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देता था, वहीं मार्क्सवाद ने आर्थिक संरचना और उत्पादन संबंधों को राजनीति की जड़ में रखा। यह आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में एक निर्णायक मोड़ था।

फिर भी मार्क्सवाद की आलोचना भी हुई। उदार विचारकों ने इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए खतरा माना। बीसवीं शताब्दी में सोवियत मॉडल के अनुभवों ने यह प्रश्न उठाया कि क्या राज्य-नियंत्रित समाजवाद लोकतंत्र और स्वतंत्रता के साथ संगत रह सकता है। दूसरी ओर लोकतांत्रिक समाजवादियों ने मार्क्सवाद को लोकतांत्रिक राजनीति, कल्याणकारी राज्य और सामाजिक अधिकारों के साथ जोड़ने का प्रयास किया।

भारतीय संदर्भ में मार्क्सवाद का प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा, लेकिन यहाँ जाति, धर्म और ग्रामीण संरचना ने वर्ग-विश्लेषण को जटिल बनाया। राममनोहर लोहिया ने इसी कारण भारतीय समाजवाद में जाति, भाषा, लिंग और स्थानीय असमानताओं को शामिल किया। यह तुलना आगे की इकाई में अधिक विस्तार से आएगी।

1.3.11 पाश्चात्य चिंतन की आंतरिक विविधता

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन को एकरूप मानना बड़ी भूल होगी। इसमें अनेक अंतर्विरोध और बहसें मौजूद हैं। प्लेटो लोकतंत्र की आलोचना करते हैं, अरस्तू मिश्रित शासन की बात करते हैं। हॉब्स मजबूत संप्रभु राज्य का समर्थन करते हैं, लॉक सीमित सरकार का। रूसो जनता की सामूहिक इच्छा पर बल देते हैं, मिल व्यक्ति की स्वतंत्रता पर। हेगेल राज्य को नैतिक जीवन की उच्च अभिव्यक्ति मानते हैं, मार्क्स राज्य को वर्ग-शक्ति का उपकरण बताते हैं।

इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में उदारवाद, समाजवाद, नारीवाद, उत्तर-औपनिवेशिक चिंतन, बहुसंस्कृतिवाद, पर्यावरणवाद और समुदायवाद ने पाश्चात्य परंपरा के भीतर ही गहन बहसों को जन्म दिया। जॉन रॉल्स की **'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस'** (*A Theory of Justice*) ने न्याय को निष्पक्षता के रूप में समझाया, जबकि रॉबर्ट नॉजिक ने **'एनार्की, स्टेट एंड यूटोपिया'** (*Anarchy, State, and Utopia*) में न्यूनतम राज्य की रक्षा की। नारीवादी विचारक कैरोल पेटमैन ने 'द सेक्सुअल कॉन्ट्रैक्ट' (*The Sexual Contract*) में सामाजिक संविदा सिद्धांत की पुरुष-केंद्रित सीमाओं को उजागर किया।

इससे स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य चिंतन केवल उदारवाद या व्यक्तिवाद नहीं है। उसमें नैतिक समुदायवाद, गणतंत्रवाद, समाजवाद, आलोचनात्मक सिद्धांत और नारीवादी राजनीति जैसी अनेक धाराएँ मौजूद हैं। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का कार्य इन्हीं विविधताओं को समझते हुए भारतीय और अन्य परंपराओं के साथ संवाद स्थापित करना है।

1.3.12 समकालीन संदर्भ में पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन

आज पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन अनेक चुनौतियों का सामना कर रहा है। उदार लोकतंत्र पर जनतंत्रवादी उभार, राष्ट्रवाद, प्रवासी संकट, आर्थिक असमानता, नस्ली तनाव, डिजिटल निगरानी और जलवायु संकट के कारण नए प्रश्न उठ रहे हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामूहिक सुरक्षा के बीच संतुलन का प्रश्न कोविड-19 महामारी के दौरान विशेष रूप से सामने आया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और घृणास्पद भाषण के बीच सीमा का प्रश्न डिजिटल युग में अत्यंत जटिल हो गया है।

इसी प्रकार मानवाधिकार की सार्वभौमिकता पर भी बहस जारी है। क्या मानवाधिकार पश्चिमी उदारवाद की उपज हैं या वे सार्वभौमिक नैतिक दावे हैं? क्या सांस्कृतिक विविधता के नाम पर स्वतंत्रता और समानता से समझौता किया जा सकता है? क्या उदार लोकतंत्र सामाजिक न्याय के बिना स्थिर रह सकता है? ये प्रश्न आज पाश्चात्य चिंतन की सीमाओं और संभावनाओं दोनों को सामने लाते हैं।

भारतीय विद्यार्थियों के लिए पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का अध्ययन इसलिए आवश्यक है क्योंकि आधुनिक संविधान, लोकतंत्र, अधिकार, राज्य, नागरिकता, समाजवाद और न्याय की अनेक अवधारणाएँ इसी परंपरा से आई हैं। किन्तु इसे आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ना भी आवश्यक है, क्योंकि भारतीय समाज की जटिलताएँ केवल पाश्चात्य सिद्धांतों से पूरी तरह नहीं समझी जा सकतीं। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत इसी संवाद का मार्ग खोलता है।

अतः पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताओं को निम्न रूप में समझा जा सकता है: तर्क और विवेक पर बल, व्यक्ति की स्वतंत्रता का विकास, विधि और नागरिकता की परंपरा, राज्य की वैधता का संविदात्मक आधार, धर्मनिरपेक्षता, अधिकारों की भाषा, आधुनिकता और प्रगति की अवधारणा, पूँजीवाद की आलोचना और लोकतांत्रिक आत्मचिंतन। परंतु इसके साथ यह भी समझना आवश्यक है कि पाश्चात्य चिंतन स्वयं एक बहसों से भरी परंपरा है, कोई बंद और स्थिर ज्ञान-प्रणाली नहीं।

1.4 भारतीय राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय राजनीतिक चिंतन विश्व की प्राचीनतम बौद्धिक परंपराओं में से एक है। इसकी विशेषता यह है कि यह केवल राज्य, शासन और सत्ता के तकनीकी प्रश्नों तक सीमित नहीं है, बल्कि धर्म, नैतिकता, समाज, समुदाय, आत्मानुशासन, लोककल्याण और मानव जीवन के अंतिम उद्देश्यों से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय राजनीतिक चिंतन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसे केवल आधुनिक राज्यशास्त्र की संकीर्ण परिभाषाओं के भीतर न देखा जाए। भारतीय परंपरा में राजनीति को जीवन के व्यापक नैतिक और सामाजिक ढाँचे का अंग माना गया।

औपनिवेशिक काल में अनेक पश्चिमी विद्वानों ने यह धारणा प्रस्तुत की कि भारत में स्वतंत्र राजनीतिक चिंतन विकसित नहीं हुआ। जेम्स मिल, मैक्स मूलर तथा कुछ अन्य यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय समाज को मुख्यतः आध्यात्मिक और धार्मिक समाज के रूप में प्रस्तुत किया, जहाँ राजनीतिक यथार्थवाद, नागरिकता और संस्थागत राजनीति का अभाव था। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने इस दृष्टिकोण को गंभीर रूप से चुनौती दी। वी. आर. मेहता ने अपनी पुस्तक 'फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट' (*Foundations of Indian Political Thought*) में स्पष्ट किया कि भारतीय चिंतन में राज्य, शक्ति, दण्ड, प्रशासन, न्याय, सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक वैधता पर गहन विमर्श उपलब्ध है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की सबसे प्रमुख विशेषता धर्म और राजनीति के अंतर्संबंध में दिखाई देती है। यहाँ यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि भारतीय परंपरा में "धर्म" का अर्थ केवल संगठित मजहब या पूजा-पद्धति नहीं था। धर्म का अर्थ सामाजिक व्यवस्था, नैतिक दायित्व, कर्तव्य, न्याय और जीवन के संतुलन से भी था। यही कारण है कि भारतीय चिंतन में राजधर्म की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। महाभारत, रामायण, मनुस्मृति तथा बौद्ध ग्रंथों में राजा के कर्तव्यों, न्याय, दण्ड और प्रजा-कल्याण पर विस्तार से चर्चा मिलती है।

महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर को यह बताते हैं कि राज्य का मूल उद्देश्य प्रजा की रक्षा और धर्म की स्थापना है। यहाँ धर्म का अर्थ किसी संकीर्ण धार्मिक पहचान से नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और व्यवस्था से है। इसी प्रकार रामायण में राम को आदर्श शासक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर उठकर लोकहित को प्राथमिकता देते हैं। "रामराज्य" की अवधारणा आधुनिक भारतीय राजनीति में भी बार-बार प्रयुक्त होती रही है। महात्मा गांधी ने भी 'हिंद स्वराज' (*Hind Swaraj*) और अपने अन्य लेखनों में रामराज्य को नैतिक शासन, न्याय और जनकल्याण की प्रतीक अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया।

भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य को केवल दमनकारी संस्था नहीं माना गया। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में राज्य की शक्ति, कर-व्यवस्था, जासूसी, युद्धनीति और कूटनीति का अत्यंत यथार्थवादी विश्लेषण मिलता है, किन्तु इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि राजा का सुख प्रजा के सुख में निहित है। यह दृष्टिकोण पश्चिमी निरंकुश राज्य की अवधारणा से भिन्न है। कौटिल्य स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि यदि प्रजा असंतुष्ट

होगी तो राज्य स्थिर नहीं रह सकता। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य की वैधता का संबंध लोककल्याण से भी था।

भारतीय चिंतन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता कर्तव्यप्रधान दृष्टिकोण है। पश्चिमी आधुनिक राजनीतिक चिंतन में अधिकारों की भाषा अत्यंत प्रभावशाली रही, जबकि भारतीय परंपरा में कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया। इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय चिंतन में अधिकारों की कोई अवधारणा नहीं थी, बल्कि यह कि सामाजिक जीवन को परस्पर दायित्वों और नैतिक उत्तरदायित्वों के माध्यम से समझा गया। परिवार, समुदाय, जाति और सामाजिक संस्थाएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करती थीं।

महात्मा गांधी ने अधिकारों से अधिक कर्तव्यों को महत्त्व दिया। उनका मानना था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करे तो अधिकार स्वतः सुरक्षित हो जाएंगे। गांधी का यह दृष्टिकोण आधुनिक उदारवाद से भिन्न था, क्योंकि उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों को प्राथमिकता देता है। गांधी के लिए स्वतंत्रता केवल राजनीतिक नहीं थी। वह नैतिक आत्मसंयम, सत्य और अहिंसा से जुड़ी थी।

किन्तु भारतीय परंपरा के इस कर्तव्यप्रधान दृष्टिकोण की आलोचना भी हुई। डॉ. भीमराव आंबेडकर ने कहा कि भारतीय समाज में कर्तव्य और धर्म की अवधारणाओं का उपयोग अक्सर सामाजिक असमानताओं को स्थायी बनाने के लिए किया गया। जाति-व्यवस्था ने सामाजिक दायित्वों को जन्म से निर्धारित कर दिया था। आंबेडकर ने 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' (*Annihilation of Caste*) में इस व्यवस्था की तीखी आलोचना की। उनके अनुसार यदि समाज समानता और स्वतंत्रता पर आधारित नहीं होगा तो नैतिकता का दावा खोखला होगा। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिंतन स्वयं के भीतर भी गहरी बहसों से भरा हुआ है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता समुदायवादी और समन्वयवादी दृष्टिकोण है। पश्चिमी आधुनिक चिंतन में व्यक्ति को स्वतंत्र इकाई के रूप में देखा गया, जबकि भारतीय समाज में व्यक्ति की पहचान परिवार, जाति, समुदाय और धार्मिक-सांस्कृतिक संबंधों से निर्मित होती रही। इसीलिए भारतीय राजनीति में सामाजिक संबंधों और सामूहिक जीवन का अत्यधिक महत्त्व रहा है।

किन्तु यह समुदायवादी संरचना केवल सकारात्मक नहीं थी। एक ओर इसने सामाजिक सहयोग और सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखा, दूसरी ओर जाति, लैंगिक असमानता और सामाजिक पदानुक्रम को भी स्थायी किया। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय चिंतकों ने परंपरा की पुनर्व्याख्या की। गांधी ग्राम समुदाय और विकेंद्रीकरण की बात करते हैं, जबकि आंबेडकर आधुनिक संवैधानिक राज्य और सामाजिक न्याय को प्राथमिकता देते हैं। राममनोहर लोहिया जाति, वर्ग और भाषा के प्रश्नों को एक साथ जोड़ते हैं। टैगोर राष्ट्रवाद की अतिवादी प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए मानवतावादी अंतरराष्ट्रीयता पर बल देते हैं।

भारतीय राजनीतिक चिंतन में आध्यात्मिकता और नैतिकता का भी गहरा स्थान रहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय चिंतन केवल आध्यात्मिक था और राजनीतिक यथार्थ से दूर था। बल्कि भारतीय परंपरा में राजनीति को नैतिक आत्मसंयम और सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़कर देखा गया। बौद्ध राजनीतिक चिंतन इसका महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। गौतम बुद्ध ने हिंसा, लोभ और सत्ता-लिप्सा की आलोचना की तथा करुणा, मध्यम मार्ग और नैतिक अनुशासन पर बल दिया। बौद्ध संघ की संगठनात्मक संरचना में सामूहिक निर्णय, विमर्श और अनुशासन के तत्व मौजूद थे।

सम्राट अशोक भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने हिंसक विजय की नीति छोड़कर धम्म की नीति अपनाई। उनके शिलालेखों में धार्मिक सहिष्णुता, नैतिक शासन, प्रजा-

कल्याण, पशु-हत्या में कमी और प्रशासनिक उत्तरदायित्व की चर्चा मिलती है। रोमिला थापर ने 'अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्याज' (*Ashoka and the Decline of the Mauryas*) में यह दिखाया है कि अशोक ने शासन को नैतिक वैधता देने का प्रयास किया।

भारतीय राजनीतिक चिंतन का विकास केवल प्राचीन ग्रंथों तक सीमित नहीं रहा। मध्यकालीन भारत में भक्ति और सूफी आंदोलनों ने सामाजिक समानता, धार्मिक सहिष्णुता और मानवतावाद को बल दिया। कबीर, रविदास, नानक और अन्य संतों ने धार्मिक कट्टरता तथा सामाजिक विभाजन की आलोचना की। यह एक प्रकार की सामाजिक-राजनीतिक आलोचना थी, जिसने बाद के लोकतांत्रिक और समानतावादी विचारों को प्रभावित किया।

औपनिवेशिक काल भारतीय राजनीतिक चिंतन के लिए निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ। अंग्रेजी शिक्षा, आधुनिक विज्ञान, राष्ट्रवाद, उदारवाद और संवैधानिक राजनीति के प्रभाव ने भारतीय चिंतकों को नई चुनौतियों के सामने खड़ा किया। अब प्रश्न केवल यह नहीं था कि अच्छा शासन क्या है, बल्कि यह भी था कि उपनिवेशवाद से मुक्ति कैसे प्राप्त की जाए और आधुनिक भारत का निर्माण किन सिद्धांतों पर हो।

राजा राममोहन राय ने सामाजिक सुधार, धार्मिक सहिष्णुता और आधुनिक शिक्षा का समर्थन किया। दयानंद सरस्वती ने वैदिक पुनरुत्थान का आह्वान किया। बाल गंगाधर तिलक ने स्वराज को जन्मसिद्ध अधिकार कहा। गांधी ने नैतिक राजनीति, ग्राम स्वराज और अहिंसक प्रतिरोध को विकसित किया। नेहरू वैज्ञानिक आधुनिकता और लोकतांत्रिक समाजवाद के समर्थक थे। आंबेडकर सामाजिक न्याय और संवैधानिक लोकतंत्र के सबसे बड़े सिद्धांतकारों में उभरे।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रश्न उत्पन्न होता है। क्या आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन पश्चिमी विचारों की मात्र नकल था? इसका उत्तर नकारात्मक है। भारतीय चिंतकों ने पश्चिमी अवधारणाओं को भारतीय सामाजिक वास्तविकताओं के संदर्भ में पुनर्व्याख्यायित किया। उदाहरण के लिए, गांधी ने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए अहिंसा और स्वराज को केंद्र में रखा। आंबेडकर ने उदार लोकतंत्र को जाति-विरोधी सामाजिक क्रांति से जोड़ा। नेहरू ने लोकतंत्र को धर्मनिरपेक्षता और वैज्ञानिक विकास के साथ संयोजित किया।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की एक और विशेषता बहुलतावाद है। भारत सदियों से भाषाई, धार्मिक, जातीय और सांस्कृतिक विविधताओं का समाज रहा है। इस विविधता ने राजनीतिक चिंतन को भी प्रभावित किया। भारतीय संविधान इसी बहुलतावादी परंपरा का आधुनिक राजनीतिक रूप है। इसमें उदार अधिकार, सामाजिक न्याय, संघवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र को एक साथ समाहित करने का प्रयास किया गया।

फिर भी भारतीय राजनीतिक चिंतन के समक्ष अनेक चुनौतियाँ बनी हुई हैं। जातिगत असमानता, सांप्रदायिक तनाव, लैंगिक भेदभाव, आर्थिक विषमता और पहचान की राजनीति आज भी भारतीय लोकतंत्र को प्रभावित करती हैं। इसी कारण समकालीन भारतीय राजनीति में गांधी, आंबेडकर, लोहिया और टैगोर जैसे चिंतकों की प्रासंगिकता बनी हुई है।

यदि पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन ने व्यक्ति, अधिकार, संवैधानिकता और वैज्ञानिक तर्क को विकसित किया, तो भारतीय राजनीतिक चिंतन ने नैतिकता, सामाजिक संबंधों, लोककल्याण, समुदाय और आध्यात्मिकता को राजनीतिक विमर्श का अंग बनाया। किन्तु दोनों परंपराओं को स्थिर और परस्पर विरोधी श्रेणियों के रूप में नहीं समझना चाहिए। भारतीय चिंतन में भी यथार्थवाद, शक्ति और राज्यकला मौजूद है, जबकि पाश्चात्य चिंतन में भी नैतिकता, समुदाय और सार्वजनिक कल्याण की धारा विद्यमान है। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का वास्तविक उद्देश्य इन्हीं अंतर्संबंधों, अंतर्विरोधों और संवादों को समझना है।

1.5 भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन केवल दो भिन्न सभ्यताओं की वैचारिक तुलना भर नहीं है, बल्कि यह राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति, ज्ञान की सार्वभौमिकता, संस्कृति और सत्ता के संबंध तथा आधुनिकता की विविध अवधारणाओं को समझने का प्रयास भी है। लंबे समय तक राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन में पश्चिमी चिंतन को सार्वभौमिक और भारतीय चिंतन को विशिष्ट अथवा सांस्कृतिक माना गया। किन्तु तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत ने इस धारणा को चुनौती दी है। अब यह स्वीकार किया जा रहा है कि प्रत्येक राजनीतिक परंपरा अपने विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संदर्भों से निर्मित होती है। इसीलिए भारतीय और पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के बीच अंतर को केवल "पूर्व बनाम पश्चिम" की सरल श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। दोनों परंपराओं के भीतर विविधता, अंतर्विरोध और ऐतिहासिक परिवर्तन मौजूद हैं।

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की केंद्रीय विशेषता तर्कवाद, व्यक्तिवाद और अधिकार-आधारित राजनीति मानी जाती है। यूनानी चिंतन से लेकर आधुनिक उदारवाद तक राजनीति को मानव विवेक, संविदा और नागरिकता के आधार पर समझने का प्रयास किया गया। जॉन लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल और इमैनुएल कांट जैसे विचारकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता और नैतिक स्वायत्तता को अत्यधिक महत्त्व दिया। आधुनिक पश्चिमी लोकतंत्र इसी धारणा पर आधारित है कि व्यक्ति राज्य से पूर्व अस्तित्व रखता है और राज्य की वैधता नागरिकों की सहमति से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत भारतीय राजनीतिक चिंतन में व्यक्ति को प्रायः समुदाय, धर्म, परिवार और सामाजिक उत्तरदायित्वों के संदर्भ में देखा गया। यहाँ सामाजिक संबंध व्यक्ति की पहचान का महत्त्वपूर्ण आधार रहे। इस कारण भारतीय चिंतन में कर्तव्य और नैतिक दायित्वों पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया।

किन्तु इस अंतर को अत्यधिक सरल बनाना उचित नहीं होगा। उदाहरण के लिए, अरस्तू का चिंतन आधुनिक व्यक्तिवाद से भिन्न था। 'पॉलिटिक्स' (*Politics*) में वे मनुष्य को "राजनीतिक प्राणी" कहते हैं और समुदाय को अच्छे जीवन की अनिवार्य शर्त मानते हैं। दूसरी ओर भारतीय परंपरा में भी पूर्ण सामूहिकता नहीं थी। उपनिषदों, बौद्ध चिंतन और भक्ति परंपरा में व्यक्ति की नैतिक आत्मचेतना को महत्त्व दिया गया। इस प्रकार दोनों परंपराओं के भीतर व्यक्ति और समुदाय के संबंधों पर बहस मौजूद रही है।

धर्म और राजनीति का संबंध भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन के बीच एक महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक आधार प्रस्तुत करता है। यूरोप में चर्च और राज्य के ऐतिहासिक संघर्ष ने आधुनिक धर्मनिरपेक्षता को जन्म दिया। धार्मिक युद्धों और सुधार आंदोलनों के बाद यह धारणा विकसित हुई कि राज्य को किसी एक धार्मिक सत्ता से स्वतंत्र होना चाहिए। इसी प्रक्रिया में आधुनिक लौकिक राजनीति और धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा विकसित हुई। जॉन लॉक की 'ए लेटर कन्सर्निंग टॉलरशन' (*A Letter Concerning Toleration*) तथा बाद में फ्रांसीसी क्रांति के सिद्धांतों ने धार्मिक सहिष्णुता और नागरिक समानता को बल दिया। इसके विपरीत भारतीय परंपरा में धर्म का अर्थ चर्च जैसी संस्थागत धार्मिक सत्ता नहीं था। धर्म सामाजिक नैतिकता, कर्तव्य और जीवन-पद्धति से जुड़ा हुआ था। इसीलिए भारतीय राजनीति में धर्म और नैतिकता के संबंध को पूर्णतः अलग नहीं किया गया। गांधी ने राजनीति को "धर्म से रहित" करने का विरोध किया, किन्तु उनका धर्म किसी संकीर्ण संप्रदायवाद का नहीं बल्कि सत्य, अहिंसा और नैतिक उत्तरदायित्व का धर्म था। दूसरी ओर आंबेडकर ने यह दिखाया कि धर्म और सामाजिक संरचना का संबंध कभी-कभी दमनकारी भी हो सकता है। उन्होंने जाति-व्यवस्था की धार्मिक वैधता की आलोचना करते हुए सामाजिक लोकतंत्र और संवैधानिक नैतिकता पर बल दिया।

राज्य की अवधारणा भी दोनों परंपराओं में भिन्न रूपों में विकसित हुई। पश्चिमी चिंतन में आधुनिक राज्य का विकास संप्रभुता, विधि और संविदा के आधार पर हुआ। हॉब्स के लिए राज्य अराजकता से सुरक्षा प्रदान करने वाली सर्वोच्च शक्ति था। लॉक के लिए राज्य प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा का माध्यम था, जबकि रूसो के लिए राज्य सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति था। भारतीय चिंतन में राज्य को केवल संप्रभु शक्ति के रूप में नहीं देखा गया। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में राज्य शक्ति, युद्ध, कर और दण्ड का यथार्थवादी विश्लेषण अवश्य मिलता है, किन्तु इसके साथ लोककल्याण का विचार भी जुड़ा हुआ है। महाभारत और धर्मशास्त्रीय परंपरा में राजा का दायित्व धर्मरक्षा और सामाजिक संतुलन बनाए रखना था। यहाँ राज्य की वैधता केवल शक्ति से नहीं, बल्कि प्रजा के कल्याण और नैतिक दायित्वों से भी जुड़ी थी।

आधुनिकता की अवधारणा दोनों परंपराओं के बीच एक अन्य महत्त्वपूर्ण बहस का विषय है। पश्चिमी आधुनिकता वैज्ञानिक तर्क, औद्योगीकरण, व्यक्तिवाद, पूँजीवाद और राष्ट्र-राज्य के विकास से जुड़ी रही। ज्ञानोदय के चिंतकों ने यह विश्वास व्यक्त किया कि मानव विवेक और विज्ञान के माध्यम से समाज को अधिक स्वतंत्र और प्रगतिशील बनाया जा सकता है। किन्तु भारतीय चिंतकों ने आधुनिकता को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा। गांधी ने 'हिंद स्वराज' (*Hind Swaraj*) में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए कहा कि मशीन-प्रधान विकास मनुष्य को नैतिक रूप से रिक्त कर सकता है। दूसरी ओर नेहरू वैज्ञानिक दृष्टिकोण, औद्योगीकरण और आधुनिक संस्थाओं के समर्थक थे। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिंतन में आधुनिकता को न तो पूर्णतः अस्वीकार किया गया और न ही बिना आलोचना के स्वीकार किया गया।

भारतीय और पाश्चात्य चिंतन के बीच समानता और असमानता की अवधारणाओं में भी महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है। पश्चिमी उदारवाद ने विधिक समानता और नागरिक अधिकारों पर बल दिया, किन्तु आर्थिक असमानता लंबे समय तक बनी रही। मार्क्स ने इसी कारण उदार लोकतंत्र की आलोचना करते हुए कहा कि राजनीतिक समानता तब तक अधूरी है जब तक आर्थिक शोषण समाप्त नहीं होता। भारतीय समाज में असमानता का स्वरूप जाति, वर्ण और सामाजिक पदानुक्रम से जुड़ा था। आंबेडकर ने यह स्पष्ट किया कि केवल राजनीतिक लोकतंत्र पर्याप्त नहीं है, जब तक सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र स्थापित न हो। इस संदर्भ में भारतीय चिंतन ने समानता के प्रश्न को सामाजिक संरचना के साथ जोड़ा, जो पश्चिमी वर्ग-आधारित विश्लेषण से भिन्न था।

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह भी है कि वह दोनों परंपराओं को स्थिर और बंद श्रेणियों के रूप में देखने के बजाय उनके मध्य संवाद स्थापित करे। उदाहरण के लिए, आधुनिक भारतीय संविधान पश्चिमी उदार लोकतंत्र, फ्रांसीसी क्रांति के आदर्शों, ब्रिटिश संसदीय परंपरा और अमेरिकी संवैधानिकता से प्रभावित है, किन्तु साथ ही उसमें भारतीय सामाजिक न्याय, बहुलतावाद और सकारात्मक भेदभाव की अवधारणाएँ भी शामिल हैं। इसी प्रकार समकालीन पश्चिमी चिंतन में भी समुदायवाद, बहुसंस्कृतिवाद और नैतिक राजनीति की चर्चा बढ़ी है, जो केवल कठोर व्यक्तिवाद से आगे बढ़ने का संकेत देती है।

चार्ल्स टेलर, माइकल सैंडल और एलैस्टेयर मैकिन्टायर जैसे समुदायवादी विचारकों ने उदार व्यक्तिवाद की आलोचना करते हुए यह कहा कि व्यक्ति को उसके सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों से अलग करके नहीं समझा जा सकता। यह दृष्टिकोण कई स्तरों पर भारतीय समुदायवादी परंपराओं से संवाद स्थापित करता है। दूसरी ओर भारतीय लोकतंत्र में व्यक्तिगत अधिकारों, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और संवैधानिक न्याय की माँगें उदारवादी परंपरा की प्रासंगिकता को भी स्पष्ट करती हैं।

समकालीन वैश्विक राजनीति में यह तुलनात्मक दृष्टिकोण और भी आवश्यक हो गया है। वैश्वीकरण, प्रवासन, पहचान की राजनीति, धार्मिक पुनरुत्थान, डिजिटल निगरानी, जलवायु संकट और आर्थिक असमानता जैसे प्रश्न

किसी एक राजनीतिक परंपरा से हल नहीं किए जा सकते। पश्चिमी उदार लोकतंत्र आज जनतंत्रवादी उभार और सामाजिक ध्रुवीकरण का सामना कर रहा है, जबकि भारत जैसे समाज सामाजिक न्याय, बहुलतावाद और विकास के बीच संतुलन बनाने की चुनौती से जूझ रहे हैं। इस संदर्भ में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत केवल अकादमिक अध्ययन नहीं, बल्कि वैश्विक सहअस्तित्व की बौद्धिक आवश्यकता बन गया है।

भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों परंपराएँ मानव समाज के मूलभूत प्रश्नों से जूझती रही हैं, किन्तु उनके उत्तर ऐतिहासिक अनुभवों और सांस्कृतिक संदर्भों के अनुसार भिन्न रहे हैं। पश्चिमी चिंतन ने व्यक्ति, अधिकार, संविदा, संवैधानिकता और वैज्ञानिक तर्क को विकसित किया, जबकि भारतीय चिंतन ने नैतिकता, सामाजिक दायित्व, समुदाय, लोककल्याण और आध्यात्मिकता को राजनीति के साथ जोड़ा। फिर भी दोनों परंपराओं को पूर्णतः विरोधी ध्रुवों के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। दोनों में संवाद, अंतःक्रिया और पुनर्व्याख्या की संभावनाएँ सदैव मौजूद रही हैं। यही तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का केंद्रीय उद्देश्य है।

1.6 तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का समकालीन महत्व

समकालीन विश्व में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का महत्व अत्यंत बढ़ गया है क्योंकि आज राजनीति केवल राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं तक सीमित नहीं रह गई है। वैश्वीकरण, प्रवासन, संचार क्रांति, अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं, डिजिटल प्रौद्योगिकी तथा वैश्विक पूँजीवाद ने विभिन्न समाजों को अभूतपूर्व रूप से परस्पर जोड़ दिया है। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक सिद्धांत के समक्ष यह चुनौती उत्पन्न हुई कि क्या पश्चिमी उदार लोकतंत्र, मानवाधिकार और आधुनिकता की अवधारणाएँ समस्त विश्व के लिए सार्वभौमिक मानी जा सकती हैं, अथवा विभिन्न समाजों की अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक राजनीतिक परंपराएँ भी समान रूप से वैध हैं। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत इसी प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास करता है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक राजनीतिक सिद्धांत का मुख्य ढाँचा पश्चिमी अनुभवों पर आधारित रहा। उदारवाद, समाजवाद, लोकतंत्र, नागरिकता और राष्ट्रवाद की अधिकांश व्याख्याएँ यूरोप और उत्तर अमेरिका के ऐतिहासिक विकास से निर्मित थीं। किन्तु एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के उपनिवेश-विरोधी संघर्षों ने इस बौद्धिक वर्चस्व को चुनौती दी। फ्रांत्ज फैनन, एडवर्ड सईद, पार्थ चटर्जी, रणजीत गुहा तथा अन्य उत्तर-औपनिवेशिक चिंतकों ने यह दिखाया कि औपनिवेशिक सत्ता केवल राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसने ज्ञान, इतिहास और संस्कृति की व्याख्याओं को भी नियंत्रित किया। इसीलिए तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत ज्ञान के Decolonisation of Knowledge की प्रक्रिया से गहराई से जुड़ा हुआ है।

एडवर्ड सईद की 'ओरिएंटलिज़्म' (*Orientalism*) ने यह स्थापित किया कि पश्चिम ने "पूर्व" की ऐसी छवि निर्मित की जो उसे तर्कहीन, रहस्यमय और पिछड़ा सिद्ध करती थी। इस प्रकार पश्चिम स्वयं को आधुनिक, वैज्ञानिक और सभ्य घोषित कर सका। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत इस प्रकार की बौद्धिक संरचनाओं की आलोचना करता है और यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि राजनीतिक बुद्धि किसी एक सभ्यता की बौद्धिक संपत्ति नहीं है। भारतीय, चीनी, इस्लामी, अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी परंपराओं में भी सत्ता, न्याय, नैतिकता और समुदाय के प्रश्नों पर गहन चिंतन उपलब्ध है।

समकालीन विश्व राजनीति में लोकतंत्र की अवधारणा स्वयं गहन बहस का विषय बन चुकी है। पश्चिमी उदार लोकतंत्र लंबे समय तक लोकतांत्रिक शासन का आदर्श मॉडल माना जाता रहा, किन्तु आज अनेक पश्चिमी समाजों में जनतंत्रवादी राजनीति, अतिराष्ट्रवाद, नस्ली तनाव, प्रवासी-विरोधी आंदोलनों और राजनीतिक

ध्रुवीकरण का उदय हुआ है। अमेरिका और यूरोप में लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति अविश्वास बढ़ा है। डिजिटल माध्यमों ने सूचना के लोकतंत्रीकरण के साथ-साथ दुष्प्रचार, निगरानी और जनमत-प्रबंधन की नई समस्याएँ भी उत्पन्न की हैं। ऐसे समय में यह प्रश्न उठता है कि क्या लोकतंत्र केवल चुनावी प्रक्रिया तक सीमित है, या उसमें सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता और सांस्कृतिक बहुलता भी शामिल होनी चाहिए।

भारतीय संदर्भ में यह बहस विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, किन्तु यहाँ लोकतंत्र केवल चुनावी प्रतिनिधित्व का प्रश्न नहीं है। जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्रीय असमानता और आर्थिक विषमता भारतीय लोकतंत्र को जटिल बनाते हैं। डॉ. भीमराव आंबेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट रूप से कहा था कि राजनीतिक लोकतंत्र तब तक स्थायी नहीं हो सकता जब तक सामाजिक लोकतंत्र स्थापित न हो। यह विचार समकालीन भारत में अत्यंत प्रासंगिक है, जहाँ संवैधानिक अधिकारों और सामाजिक वास्तविकताओं के बीच निरंतर संघर्ष दिखाई देता है। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत इन जटिलताओं को समझने के लिए पश्चिमी उदारवाद और भारतीय सामाजिक अनुभवों दोनों को संवाद में लाता है।

धर्म और राजनीति का प्रश्न भी समकालीन विश्व में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन चुका है। बीसवीं शताब्दी में यह माना गया था कि आधुनिकता के साथ धर्म का प्रभाव कम होता जाएगा, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत दिखाई देती है। पश्चिम एशिया में राजनीतिक इस्लाम, अमेरिका में ईसाई दक्षिणपंथ, भारत में धार्मिक राष्ट्रवाद तथा यूरोप में सांस्कृतिक पहचान की राजनीति यह संकेत देती है कि धर्म आज भी राजनीतिक जीवन का शक्तिशाली तत्व है। इस परिस्थिति में पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता की पारंपरिक अवधारणाएँ पर्याप्त नहीं प्रतीत होतीं। भारतीय अनुभव यहाँ एक अलग दृष्टि प्रस्तुत करता है, जहाँ बहुधार्मिक समाज में सहअस्तित्व, धार्मिक स्वतंत्रता और राज्य की मध्यस्थ भूमिका को महत्त्व दिया गया।

चार्ल्स टेलर ने अपनी पुस्तक '**अ सेक्युलर एज**' (*A Secular Age*) में यह तर्क दिया कि आधुनिकता का अर्थ धर्म का अंत नहीं है, बल्कि धार्मिक अनुभवों और सार्वजनिक जीवन के संबंधों का पुनर्गठन है। इसी प्रकार राजीव भार्गव ने भारतीय धर्मनिरपेक्षता को "**सिद्धांतगत दूरी**" (Principled Distance) के रूप में व्याख्यायित किया, जिसमें राज्य सभी धर्मों से समान दूरी बनाए रखने के बजाय परिस्थितियों के अनुसार हस्तक्षेप भी कर सकता है। यह उदाहरण दर्शाता है कि तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत किस प्रकार विभिन्न समाजों के अनुभवों से नई राजनीतिक अवधारणाओं का निर्माण करता है।

समकालीन वैश्विक राजनीति में पहचान की राजनीति (Identity Politics) का उभार भी तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत को नई दिशा देता है। जाति, नस्ल, लिंग, भाषा, क्षेत्र और यौनिकता से जुड़ी पहचानों ने राजनीति को गहराई से प्रभावित किया है। उदारवाद की पारंपरिक धारणा यह थी कि नागरिकता व्यक्ति की सार्वभौमिक पहचान है, किन्तु आधुनिक समाजों में यह स्पष्ट हुआ कि सामाजिक पहचानें राजनीतिक शक्ति और संसाधनों के वितरण को प्रभावित करती हैं। अमेरिका में ब्लैक लाइव्स मैटर आंदोलन, भारत में दलित आंदोलन, स्त्रीवादी आंदोलन और आदिवासी अधिकार आंदोलनों ने यह दिखाया कि समानता की औपचारिक घोषणा पर्याप्त नहीं है।

इस संदर्भ में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न समाजों के अनुभवों को परस्पर जोड़ने का कार्य करता है। उदाहरण के लिए, आंबेडकर का जाति-विमर्श और डब्ल्यू. ई. बी. डू बोइस का नस्ल-विमर्श कई स्तरों पर तुलनात्मक अध्ययन का आधार प्रदान करते हैं। दोनों ही सामाजिक बहिष्करण और सम्मान के प्रश्न को राजनीतिक न्याय से जोड़ते हैं। इसी प्रकार गांधी की अहिंसा और मार्टिन लूथर किंग जूनियर के नागरिक अधिकार आंदोलन के बीच गहरा वैचारिक संबंध दिखाई देता है।

पर्यावरण संकट और जलवायु परिवर्तन ने भी तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत की आवश्यकता को बढ़ाया है। आधुनिक पश्चिमी विकास मॉडल लंबे समय तक औद्योगीकरण, उत्पादन और आर्थिक वृद्धि पर आधारित रहा। किन्तु जलवायु संकट ने यह प्रश्न उठाया कि क्या असीमित विकास की अवधारणा टिकाऊ है। भारतीय और अन्य गैर-पाश्चात्य परंपराओं में प्रकृति, संतुलन और सहअस्तित्व की जो अवधारणाएँ मौजूद थीं, वे आज पुनः महत्त्वपूर्ण हो रही हैं। गांधी का सादगी और सीमित उपभोग का विचार, बौद्ध करुणा की अवधारणा तथा आदिवासी समुदायों की पारिस्थितिक जीवन-शैली आधुनिक पर्यावरणीय राजनीति के संदर्भ में नए अर्थ प्राप्त कर रही हैं।

समकालीन राजनीति में कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल निगरानी और डाटा-पूँजीवाद ने भी नए प्रश्न उत्पन्न किए हैं। एल्गोरिद्मिक शासन, निगरानी पूँजीवाद और डिजिटल जनमत-निर्माण ने स्वतंत्रता, गोपनीयता और लोकतंत्र की पारंपरिक अवधारणाओं को चुनौती दी है। पश्चिमी उदारवाद अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और निजता के अधिकार पर बल देता है, किन्तु डिजिटल प्लेटफॉर्मों के माध्यम से कॉरपोरेट और राज्य दोनों ही नागरिकों के व्यवहार को नियंत्रित करने की क्षमता प्राप्त कर चुके हैं। इस स्थिति में राजनीतिक सिद्धांत को नए नैतिक और लोकतांत्रिक ढाँचों की आवश्यकता है। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत यहाँ भी उपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि यह केवल तकनीकी समाधान नहीं, बल्कि व्यापक नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास करता है।

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का एक और महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि यह राजनीतिक सिद्धांत को अधिक विनम्र और आत्मालोचनात्मक बनाता है। यह किसी एक परंपरा को अंतिम सत्य घोषित नहीं करता। इसके बजाय यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक समाज की राजनीतिक बुद्धि उसके ऐतिहासिक अनुभवों से निर्मित होती है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी उदारवाद ने व्यक्तिगत अधिकारों और संवैधानिकता को विकसित किया, जबकि भारतीय चिंतन ने सामाजिक दायित्व, नैतिक राजनीति और बहुलतावादी सहअस्तित्व की अवधारणाओं को महत्त्व दिया। आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों को इन दोनों प्रकार की अंतर्दृष्टियों की आवश्यकता है।

फ्रेड डलमायर ने इसी कारण तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत को "**संवादी राजनीति**" की दिशा में एक कदम बताया। उनके अनुसार आज का विश्व तब तक शांतिपूर्ण और न्यायपूर्ण नहीं हो सकता जब तक विभिन्न सभ्यताएँ एक-दूसरे को केवल प्रतिस्पर्धी या शत्रु के रूप में देखती रहें। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत सांस्कृतिक संवाद, बौद्धिक विनम्रता और वैश्विक सहअस्तित्व की संभावना को विकसित करता है। इस प्रकार समकालीन युग में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का महत्व केवल अकादमिक नहीं, बल्कि गहराई से राजनीतिक और नैतिक है। यह वैश्विक न्याय, सांस्कृतिक बहुलता, लोकतांत्रिक सहअस्तित्व और ज्ञान की बहुविध परंपराओं को समझने का माध्यम बन चुका है। भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन छात्रों को न केवल विभिन्न राजनीतिक अवधारणाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझने में सहायता करता है, बल्कि उन्हें यह भी सिखाता है कि किसी भी राजनीतिक विचार को उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

1.7 भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन : तुलनात्मक सार एवं वैचारिक बहसें

भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों परंपराएँ मानव जीवन के मूलभूत प्रश्नों से जुड़ी हुई हैं, किन्तु उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ, सामाजिक संरचनाएँ तथा बौद्धिक प्राथमिकताएँ भिन्न रही हैं। पश्चिमी चिंतन का विकास नगर-राज्यों, चर्च और राज्य के संघर्ष, पुनर्जागरण, वैज्ञानिक क्रांति, औद्योगिक पूँजीवाद तथा आधुनिक राष्ट्र-राज्य की पृष्ठभूमि में हुआ। दूसरी ओर भारतीय चिंतन वैदिक परंपरा, धर्मशास्त्रों, बौद्ध एवं जैन विचारधाराओं, साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं, भक्ति आंदोलन तथा

औपनिवेशिक अनुभवों से निर्मित हुआ। यही कारण है कि दोनों परंपराओं में राजनीति की अवधारणा, व्यक्ति और समाज का संबंध, धर्म का स्थान तथा राज्य की भूमिका अलग-अलग रूपों में विकसित हुई।

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन सामान्यतः व्यक्ति-केंद्रित माना जाता है। यहाँ व्यक्ति को स्वतंत्र नैतिक सत्ता के रूप में देखा गया। उदारवाद ने यह स्थापित किया कि व्यक्ति के अधिकार राज्य से पूर्व अस्तित्व रखते हैं। जॉन लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल और कांट जैसे विचारकों ने स्वतंत्रता, स्वायत्तता और विवेक को राजनीति का केंद्र बनाया। इसके विपरीत भारतीय चिंतन में व्यक्ति को सामाजिक संबंधों के भीतर समझा गया। परिवार, जाति, समुदाय और धर्म व्यक्ति की पहचान के महत्त्वपूर्ण आधार रहे। इसीलिए भारतीय चिंतन में सामाजिक दायित्व और कर्तव्य पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया।

किन्तु यह अंतर पूर्णतः स्थिर नहीं है। पश्चिमी चिंतन में भी अरस्तू, हेगेल तथा समुदायवादी विचारकों ने समुदाय और नैतिक जीवन को महत्त्व दिया। इसी प्रकार भारतीय परंपरा में भी बौद्ध चिंतन, भक्ति आंदोलन और आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति ने व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता और सामाजिक समानता पर बल दिया। अतः तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य किसी एक परंपरा को पूर्णतः व्यक्तिवादी और दूसरी को पूर्णतः समुदायवादी सिद्ध करना नहीं है, बल्कि यह समझना है कि दोनों परंपराएँ व्यक्ति और समाज के संबंध को अलग-अलग ऐतिहासिक संदर्भों में कैसे समझती हैं।

धर्म और राजनीति का प्रश्न तुलनात्मक अध्ययन का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आधार है। यूरोप में चर्च और राज्य के संघर्ष ने आधुनिक धर्मनिरपेक्षता को जन्म दिया। आधुनिक पश्चिमी राज्य ने स्वयं को धार्मिक सत्ता से अलग करने का प्रयास किया ताकि नागरिक समानता और विधिक शासन सुनिश्चित किया जा सके। फ्रांसीसी क्रांति और अमेरिकी संवैधानिक व्यवस्था ने इस दिशा को और मजबूत किया। इसके विपरीत भारतीय परंपरा में धर्म केवल पूजा-पद्धति तक सीमित नहीं था। धर्म सामाजिक व्यवस्था, नैतिकता और जीवन-पद्धति से जुड़ा हुआ था। इसी कारण भारतीय राजनीति में धर्म और नैतिकता का संबंध लंबे समय तक बना रहा। गांधी ने राजनीति को नैतिक आत्मसंयम से जोड़ा, जबकि आंबेडकर ने धार्मिक-सामाजिक संरचनाओं की आलोचना करते हुए संवैधानिक नैतिकता को प्राथमिकता दी।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रश्न उत्पन्न होता है। क्या आधुनिक लोकतंत्र केवल धर्मनिरपेक्ष राज्य पर आधारित हो सकता है, अथवा नैतिक और सांस्कृतिक परंपराओं की भी राजनीतिक भूमिका होती है? पश्चिमी उदारवाद राज्य को धार्मिक तटस्थता की दिशा में ले गया, किन्तु समकालीन राजनीति में धार्मिक पहचानें पुनः प्रभावशाली हो रही हैं। भारत में यह प्रश्न और अधिक जटिल है क्योंकि यहाँ बहुधार्मिक समाज, व्यक्तिगत विधि, धार्मिक स्वतंत्रता और सामाजिक सुधार के प्रश्न परस्पर जुड़े हुए हैं।

राज्य की अवधारणा के स्तर पर भी दोनों परंपराओं में भिन्नता दिखाई देती है। पश्चिमी चिंतन में आधुनिक राज्य संप्रभुता, विधि और संविदा पर आधारित संस्था के रूप में विकसित हुआ। हॉब्स, लॉक और रूसो ने राज्य की वैधता को नागरिकों की सहमति से जोड़ा। इसके विपरीत भारतीय चिंतन में राज्य को नैतिक दायित्व और लोककल्याण से भी जोड़ा गया। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) राज्य की शक्ति और यथार्थवादी राजनीति का समर्थन करता है, किन्तु साथ ही प्रजा-कल्याण और प्रशासनिक दक्षता पर भी बल देता है।

भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के तुलनात्मक अध्ययन में आधुनिकता का प्रश्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। पश्चिमी आधुनिकता वैज्ञानिक विवेक, औद्योगीकरण, व्यक्तिवाद और पूँजीवाद से जुड़ी रही। ज्ञानोदय के चिंतकों ने तर्क और प्रगति में गहरा विश्वास व्यक्त किया। किन्तु बीसवीं शताब्दी में विश्व युद्धों, उपनिवेशवाद,

नस्लवाद और पर्यावरण संकट ने आधुनिकता की सीमाओं को भी उजागर किया। भारतीय चिंतकों ने आधुनिकता को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा। गांधी ने मशीनवादी सभ्यता की आलोचना की, जबकि नेहरू ने वैज्ञानिक आधुनिकता और लोकतांत्रिक विकास को आवश्यक माना। आंबेडकर ने आधुनिक संवैधानिक राज्य को सामाजिक न्याय का साधन माना। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिंतन आधुनिकता को न तो पूर्णतः अस्वीकार करता है और न ही अंधस्वीकार।

समकालीन वैश्विक राजनीति में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का महत्व इसलिए भी बढ़ गया है क्योंकि आज विश्व अनेक जटिल संकटों का सामना कर रहा है। जलवायु परिवर्तन, धार्मिक उग्रवाद, डिजिटल निगरानी, आर्थिक असमानता, पहचान की राजनीति तथा प्रवासी संकट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक राजनीतिक मॉडल से समस्त समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। पश्चिमी उदार लोकतंत्र आज सामाजिक ध्रुवीकरण और जनतंत्रवादी राजनीति से जूझ रहा है, जबकि एशियाई और अफ्रीकी समाज विकास, लोकतंत्र और सांस्कृतिक विविधता के बीच संतुलन बनाने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे समय में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न सभ्यताओं के अनुभवों से सीखने की संभावना प्रस्तुत करता है।

तुलनात्मक सारणी : भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन

आधार	**पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन**	**भारतीय राजनीतिक चिंतन**
मूल दृष्टिकोण	व्यक्तिवादी	समुदाय एवं कर्तव्य आधारित
राजनीति का आधार	तर्क, संविदा, अधिकार	धर्म, नैतिकता, लोककल्याण
राज्य की अवधारणा	संप्रभु एवं विधिक संस्था	नैतिक एवं सामाजिक संस्था
धर्म का स्थान	राजनीति से पृथक्करण की प्रवृत्ति	धर्म और राजनीति का अंतर्संबंध
स्वतंत्रता की अवधारणा	व्यक्तिगत स्वायत्तता	आत्मसंयम एवं सामाजिक उत्तरदायित्व
समानता का प्रश्न	विधिक एवं राजनीतिक समानता	सामाजिक एवं नैतिक समानता
आधुनिकता की दृष्टि	वैज्ञानिक प्रगति एवं औद्योगीकरण	आलोचनात्मक स्वीकृति
प्रमुख अवधारणाएँ	अधिकार, नागरिकता, संवैधानिकता	धर्म, राजधर्म, लोककल्याण
प्रमुख चिंतक	प्लेटो, लॉक, रूसो, मिल, मार्क्स	कौटिल्य, गांधी, आंबेडकर, लोहिया

समकालीन उदाहरण

1. भारतीय संविधान

भारतीय संविधान पश्चिमी उदार लोकतंत्र और भारतीय सामाजिक न्याय की परंपराओं का मिश्रण है।

- मौलिक अधिकार उदारवाद से प्रभावित हैं।
- आरक्षण और सामाजिक न्याय की अवधारणा भारतीय सामाजिक संरचना की प्रतिक्रिया है।

- धर्मनिरपेक्षता का भारतीय मॉडल पश्चिमी मॉडल से भिन्न है।

2. गांधी और आधुनिक पर्यावरणीय राजनीति

गांधी का सीमित उपभोग और ग्राम-आधारित अर्थव्यवस्था का विचार आज जलवायु संकट और टिकाऊ विकास की बहसों में पुनः प्रासंगिक हो गया है।

3. आंबेडकर और सामाजिक लोकतंत्र

आंबेडकर का जाति-विरोधी चिंतन केवल भारत तक सीमित नहीं है। इसे नस्ल, बहिष्करण और सामाजिक न्याय के वैश्विक विमर्शों से भी जोड़ा जा रहा है।

पुनरावृत्ति बिंदु

- तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत यूरोकेंद्रवाद की आलोचना करता है।
- फ्रेड डलमायर तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत को "संवादी प्रक्रिया" मानते हैं।
- पाश्चात्य चिंतन में व्यक्तिवाद, अधिकार और धर्मनिरपेक्षता प्रमुख हैं।
- भारतीय चिंतन में धर्म, कर्तव्य और लोककल्याण को महत्त्व दिया गया।
- गांधी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हैं।
- आंबेडकर सामाजिक लोकतंत्र और संवैधानिक नैतिकता पर बल देते हैं।
- कौटिल्य भारतीय राजनीतिक यथार्थवाद के प्रमुख सिद्धांतकार हैं।
- आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन पश्चिमी विचारों की नकल नहीं, बल्कि पुनर्व्याख्या है।
- तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत वैश्वीकरण और बहुसांस्कृतिक समाजों को समझने में सहायक है।

1.7 निष्कर्ष

भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि राजनीतिक सिद्धांत किसी एक सभ्यता की बौद्धिक संपत्ति नहीं है। विभिन्न समाजों ने अपने ऐतिहासिक अनुभवों और सांस्कृतिक संदर्भों के आधार पर सत्ता, न्याय, नैतिकता और समुदाय के प्रश्नों को अलग-अलग रूपों में समझा है। पश्चिमी चिंतन ने व्यक्ति, अधिकार, संवैधानिकता और वैज्ञानिक तर्क को विकसित किया, जबकि भारतीय चिंतन ने सामाजिक दायित्व, नैतिक राजनीति, लोककल्याण और बहुलतावादी सहअस्तित्व को महत्त्व दिया। समकालीन विश्व में लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, धार्मिक विविधता और वैश्विक संकटों को समझने के लिए इन दोनों परंपराओं के मध्य संवाद अत्यंत आवश्यक है। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत इसी संवाद की बौद्धिक आधारभूमि प्रदान करता है।

1.8 अभ्यास प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। समकालीन वैश्विक राजनीति के संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए। क्या दोनों परंपराओं को पूर्णतः विरोधी माना जा सकता है?

3. यूरोकेंद्रवाद से आप क्या समझते हैं? तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत किस प्रकार यूरोकेंद्रिक ज्ञान-परंपरा को चुनौती देता है?
4. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में व्यक्तिवाद, अधिकार और धर्मनिरपेक्षता की अवधारणाओं का विश्लेषण कीजिए।
5. भारतीय राजनीतिक चिंतन में धर्म, राजधर्म तथा लोककल्याण की अवधारणाओं की विवेचना कीजिए।
6. महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव आंबेडकर के राजनीतिक चिंतन के संदर्भ में भारतीय आधुनिकता की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
7. भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में राज्य की अवधारणा का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
8. क्या भारतीय राजनीतिक चिंतन मूलतः कर्तव्यप्रधान है जबकि पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन अधिकारप्रधान? उपयुक्त उदाहरणों सहित विवेचना कीजिए।
9. समकालीन लोकतांत्रिक संकटों के संदर्भ में तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता का परीक्षण कीजिए।
10. भारतीय राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण कीजिए। क्या आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन केवल पश्चिमी विचारों का प्रभाव है? विवेचना कीजिए।

1.9 संदर्भ-सूची

- आंबेडकर, भीमराव रामजी. (1936). *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट* (*Annihilation of Caste*). नई दिल्ली: नवायना।
- आंबेडकर, भीमराव रामजी. (2005). *बाबासाहेब आंबेडकर: राइटिंग्स एंड स्पीचेज* (*Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches*). मुंबई: एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र।
- अरस्तू. (1998). *पॉलिटिक्स* (*Politics*) (सी. डी. सी. रीव, अनुवादक). इंडियानापोलिस: हैकेट पब्लिशिंग।
- भर्गव, राजीव. (1998). *सेक्युलरिज़्म एंड इट्स क्रिटिक्स* (*Secularism and Its Critics*). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- बाउचर, डेविड, एवं केली, पॉल (संपा.). (2003). *पॉलिटिकल थिंकर्स: फ्रॉम सोक्रेटीस टू द प्रेज़ेंट* (*Political Thinkers: From Socrates to the Present*). न्यूयॉर्क: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- डलमायर, फ्रेड. (2009). "कम्पेरेटिव पॉलिटिकल थ्योरी: व्हाट इज़ इट गुड फ़ॉर?" (*Comparative Political Theory: What is it good for?*). टी. शोगिमेन एवं सी. जे. नेडरमैन (संपा.), *वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट इन डायलॉग विद एशिया* (*Western Political Thought in Dialogue with Asia*) में। प्लायमाउथ: लेक्सिंगटन बुक्स।
- गांधी, मोहनदास करमचंद. (1909). *हिंद स्वराज* (*Hind Swaraj*). अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन।
- हॉब्स, थॉमस. (1651/1996). *लेवायथन* (*Leviathan*). कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

- कौटिल्य. (2000). *अर्थशास्त्र* (*Arthashastra*) (एल. एन. रंगराजन, अनुवादक). नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स।
- लॉक, जॉन. (1988). *टू ट्रीटीज़ ऑफ गवर्नमेंट* (*Two Treatises of Government*). कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- मैकियावेली, निकोलो. (1532/2003). द *प्रिंस* (*The Prince*). न्यूयॉर्क: पेंगुइन क्लासिक्स।
- मार्क्स, कार्ल, एवं एंगेल्स, फ्रेडरिक. (1848/2002). द *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* (*The Communist Manifesto*). लंदन: पेंगुइन बुक्स।
- मेहता, वी. आर. (1992). *फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट* (*Foundations of Indian Political Thought*). नई दिल्ली: मनोहर पब्लिशर्स।
- मिल, जॉन स्टुअर्ट. (1859/2002). *ऑन लिबर्टी* (*On Liberty*). न्यूयॉर्क: डोवर पब्लिकेशन्स।
- पंथम, थॉमस, एवं डॉइच, केनेथ एल. (संपा.). (1986). *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया* (*Political Thought in Modern India*). नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स।
- पेरेल, एंथनी जे. (2009). "फ्रॉम पॉलिटिकल थॉट इन इंडिया टू इंडियन पॉलिटिकल थॉट" (*From Political Thought in India to Indian Political Thought*). टी. शोगिमेन एवं सी. जे. नेडरमैन (संपा.), *वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट इन डायलॉग विद एशिया* (*Western Political Thought in Dialogue with Asia*) में। प्लायमाउथ: लेक्सिंगटन बुक्स।
- रूसो, जाँ-जाक. (1762/1968). द *सोशल कॉन्ट्रैक्ट* (*The Social Contract*). लंदन: पेंगुइन क्लासिक्स।
- सईद, एडवर्ड. (1978). *ओरिएंटलिज़्म* (*Orientalism*). न्यूयॉर्क: पैंथियन बुक्स।
- सेन, अमर्त्य. (2005). द *आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन* (*The Argumentative Indian*). नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स।
- थापर, रोमिला. (1961). *अशोका एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्याज* (*Ashoka and the Decline of the Mauryas*). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड University Press।

राज्यकला : मैकियावेली एवं कौटिल्य

संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 मैकियावेली : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं राजनीतिक चिंतन

2.3 कौटिल्य : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, व्यक्तित्व एवं राजनीतिक चिंतन

2.4 मैकियावेली और कौटिल्य : राज्यकला एवं राजनीतिक यथार्थवाद का तुलनात्मक अध्ययन

2.5 राज्यकला की अवधारणा : शक्ति, नैतिकता और शासन का प्रश्न

2.6 मैकियावेली और कौटिल्य : नैतिकता, सत्ता और राजनीतिक व्यवहार

2.7 राज्य, शक्ति और प्रशासन : संस्थागत दृष्टि से तुलनात्मक विश्लेषण

2.8 मैकियावेली और कौटिल्य : प्रमुख तुलनात्मक बिंदु

2.9 समकालीन प्रासंगिकता

2.10 आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

2.11 तुलनात्मक सारणी

2.12 अभ्यास प्रश्न

2.13 संदर्भ-सूची

2.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिंतन के इतिहास में राज्यकला (Statecraft) का प्रश्न सदैव अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। राज्य की स्थापना कैसे हो, शासन को स्थिर कैसे रखा जाए, शासक की शक्ति का आधार क्या हो, युद्ध और कूटनीति का प्रयोग किन परिस्थितियों में किया जाए, तथा प्रजा और राज्य के मध्य संबंध किस प्रकार निर्मित हों, ये सभी प्रश्न राज्यकला के अंतर्गत आते हैं। राज्यकला केवल प्रशासनिक तकनीक नहीं है, बल्कि यह सत्ता, नैतिकता, यथार्थवाद, रणनीति और राजनीतिक विवेक का अध्ययन भी है।

विश्व राजनीतिक चिंतन में निकोलो मैकियावेली और कौटिल्य दो ऐसे विचारक हैं जिन्हें राज्यकला और राजनीतिक यथार्थवाद का प्रमुख सिद्धांतकार माना जाता है। दोनों ने ऐसे ऐतिहासिक कालों में लेखन किया जब राजनीतिक अस्थिरता, युद्ध, षड्यंत्र और सत्ता-संघर्ष तीव्र रूप में उपस्थित थे। दोनों ने राजनीति को आदर्शवादी नैतिक उपदेशों के बजाय वास्तविक शक्ति-संबंधों के आधार पर समझने का प्रयास किया। इसी कारण मैकियावेली को आधुनिक राजनीतिक यथार्थवाद का जनक कहा जाता है, जबकि कौटिल्य को भारतीय राजनीतिक यथार्थवाद का महान सिद्धांतकार माना जाता है।

मैकियावेली की प्रमुख कृति 'द प्रिंस' (*The Prince*) सोलहवीं शताब्दी के इटली की राजनीतिक विखंडन और सत्ता-संघर्ष की पृष्ठभूमि में लिखी गई। उस समय इटली अनेक छोटे-छोटे नगर-राज्यों में विभाजित था, जिनके बीच निरंतर संघर्ष चल रहा था। फ्रांस, स्पेन और पवित्र रोमन साम्राज्य जैसी बाहरी शक्तियाँ भी इटली की राजनीति में

हस्तक्षेप कर रही थीं। फ्लोरेंस, वेनिस, मिलान और नेपल्स जैसे नगर-राज्य सत्ता और प्रभुत्व के लिए संघर्षरत थे। इस अस्थिरता ने मैकियावेली को यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि राज्य को स्थिर और शक्तिशाली कैसे बनाया जाए।

दूसरी ओर कौटिल्य का चिंतन प्राचीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ था। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में भारतीय उपमहाद्वीप अनेक जनपदों और महाजनपदों में विभाजित था। नंद वंश की शक्ति, सिकंदर का आक्रमण तथा राजनीतिक विखंडन ने एक सशक्त साम्राज्य की आवश्यकता को जन्म दिया। कौटिल्य ने चंद्रगुप्त मौर्य के साथ मिलकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनकी प्रसिद्ध कृति 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) राज्य, प्रशासन, दण्डनीति, कर-व्यवस्था, युद्ध, कूटनीति और गुप्तचर प्रणाली का अत्यंत विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

मैकियावेली और कौटिल्य दोनों की तुलना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दोनों विचारकों ने राजनीति को नैतिक आदर्शवाद से आंशिक रूप से अलग करके सत्ता की वास्तविकताओं के आधार पर समझने का प्रयास किया। दोनों ने यह स्वीकार किया कि राज्य की सुरक्षा और स्थिरता सर्वोच्च राजनीतिक उद्देश्य है। शासक को परिस्थितियों के अनुसार निर्णय लेना चाहिए, चाहे उसके लिए कठोर उपायों का प्रयोग ही क्यों न करना पड़े। इसी कारण अनेक विद्वान दोनों को "राजनीतिक यथार्थवाद" (Political Realism) की परंपरा का प्रतिनिधि मानते हैं।

किन्तु दोनों विचारकों के बीच महत्त्वपूर्ण अंतर भी हैं। मैकियावेली का चिंतन पुनर्जागरणकालीन यूरोप, नगर-राज्यों और आधुनिक राष्ट्र-राज्य के उदय से जुड़ा हुआ था, जबकि कौटिल्य का चिंतन साम्राज्य-निर्माण, राजधर्म और प्राचीन भारतीय प्रशासनिक संरचना की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ। मैकियावेली राजनीति को धर्म और पारंपरिक नैतिकता से काफी हद तक अलग करते हैं, जबकि कौटिल्य के यहाँ यद्यपि यथार्थवादी दृष्टिकोण मौजूद है, फिर भी राज्य का संबंध लोककल्याण और सामाजिक व्यवस्था से बना रहता है।

राज्यकला के प्रश्न पर दोनों विचारकों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति-संतुलन, राष्ट्रीय हित, रणनीतिक गठबंधन, गुप्तचर तंत्र, युद्धनीति और कूटनीति जैसे प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक राष्ट्र-राज्य आज भी सुरक्षा और सत्ता के प्रश्नों से संचालित होते हैं। यथार्थवादी अंतरराष्ट्रीय संबंध सिद्धांत, जिसे हंस मॉर्गेन्थाउ और केनेथ वाल्ट्ज जैसे विचारकों ने विकसित किया, कई स्तरों पर मैकियावेली और कौटिल्य की परंपरा से जुड़ा हुआ दिखाई देता है।

भारत की समकालीन विदेश नीति में भी कौटिल्य के मंडल सिद्धांत का उल्लेख बार-बार किया जाता है। अनेक रणनीतिक विशेषज्ञ यह तर्क देते हैं कि पड़ोसी राज्यों के साथ संबंध, शक्ति-संतुलन और रणनीतिक साझेदारियों को समझने में कौटिल्य आज भी प्रासंगिक हैं। इसी प्रकार आधुनिक राजनीतिक नेतृत्व, जनमत-निर्माण, सत्ता-संचालन और राष्ट्रवाद की राजनीति के विश्लेषण में मैकियावेली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

मैकियावेली और कौटिल्य का अध्ययन केवल ऐतिहासिक महत्व का विषय नहीं है। यह हमें राजनीति और नैतिकता के संबंध, शक्ति की प्रकृति, राज्य की वैधता तथा शासन की सीमाओं के बारे में गहन प्रश्नों पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है। क्या राज्य की सुरक्षा के लिए नैतिकता का त्याग किया जा सकता है? क्या शासक के लिए कठोरता और छल कभी वैध हो सकते हैं? क्या राजनीति को आदर्शवाद से अलग करके समझना आवश्यक है? राज्यकला के अध्ययन का वास्तविक महत्व इन्हीं प्रश्नों में निहित है।

2.2 मैकियावेली : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं राजनीतिक चिंतन

निकोलो मैकियावेली का जन्म 1469 ईस्वी में इटली के फ्लोरेंस में हुआ। यह काल यूरोप में पुनर्जागरण (Renaissance) का युग था, जिसने मध्यकालीन धार्मिक प्रभुत्व को चुनौती देते हुए मानव विवेक, कला, विज्ञान और सांसारिक जीवन को नया महत्त्व प्रदान किया। इटली पुनर्जागरण का प्रमुख केंद्र था, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत अस्थिर था। उस समय इटली एकीकृत राष्ट्र-राज्य नहीं था, बल्कि फ्लोरेंस, वेनिस, मिलान, नेपल्स तथा पोप के अधीन रोम जैसे अनेक नगर-राज्यों में विभाजित था। इन नगर-राज्यों के मध्य निरंतर संघर्ष चलता रहता था और फ्रांस तथा स्पेन जैसी बाहरी शक्तियाँ भी इटली की राजनीति में हस्तक्षेप करती थीं।

मैकियावेली का राजनीतिक चिंतन इसी अस्थिरता, षड्यंत्र, युद्ध और सत्ता-संघर्ष की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ। उन्होंने फ्लोरेंस गणराज्य में एक राजनयिक और प्रशासक के रूप में कार्य किया। वे अनेक यूरोपीय दरबारों में गए और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से सत्ता की वास्तविक राजनीति को देखा। विशेष रूप से सेज़ारे बोर्जिया के राजनीतिक व्यवहार ने मैकियावेली को प्रभावित किया। बोर्जिया अपनी राजनीतिक चतुराई, कठोरता और शक्ति-संचालन के लिए प्रसिद्ध था। मैकियावेली ने उसमें एक ऐसे शासक की छवि देखी जो परिस्थितियों के अनुसार साहस, छल, युद्ध और रणनीति का प्रयोग करने में सक्षम था।

1512 में मेडिची परिवार ने फ्लोरेंस पर पुनः नियंत्रण स्थापित कर लिया और मैकियावेली को उनके पद से हटा दिया गया। उन पर षड्यंत्र का आरोप लगा, उन्हें कारावास और यातना का सामना करना पड़ा। बाद में रिहा होने के पश्चात उन्होंने राजनीतिक लेखन प्रारंभ किया। इसी काल में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द प्रिंस' (*The Prince*) लिखी, जिसे आधुनिक राजनीतिक चिंतन की सबसे प्रभावशाली और विवादास्पद पुस्तकों में गिना जाता है।

मैकियावेली की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाओं में **'डिस्कोर्सेज ऑन लिवी' (*Discourses on Livy*)** और **'द आर्ट ऑफ वॉर' (On *The Art of War*)** शामिल हैं। 'द प्रिंस' मुख्यतः राजतंत्रीय सत्ता और शासक की रणनीति पर केंद्रित है, जबकि 'डिस्कोर्सेज ऑन लिवी' में वे गणतंत्रीय शासन और नागरिक स्वतंत्रता पर अधिक विस्तार से विचार करते हैं। इस कारण कुछ विद्वान यह तर्क देते हैं कि मैकियावेली को केवल निरंकुश सत्ता का समर्थक मानना अधूरा दृष्टिकोण है।

मैकियावेली के चिंतन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता राजनीति को यथार्थवादी दृष्टि से देखना है। मध्यकालीन यूरोप में राजनीति को प्रायः ईसाई नैतिकता और धर्मशास्त्र के अधीन समझा जाता था। शासक से अपेक्षा की जाती थी कि वह धार्मिक सद्गुणों के अनुसार शासन करे। मैकियावेली ने इस आदर्शवादी दृष्टिकोण को चुनौती दी। उन्होंने राजनीति को वास्तविक सत्ता-संबंधों, मानव स्वभाव और राज्यहित के आधार पर समझने का प्रयास किया। इसी कारण उन्हें आधुनिक राजनीतिक यथार्थवाद का जनक कहा जाता है।

मैकियावेली मानव स्वभाव के प्रति अत्यंत यथार्थवादी, और कई बार निराशावादी दृष्टिकोण रखते थे। उनके अनुसार मनुष्य सामान्यतः स्वार्थी, अस्थिर, कृतघ्न और भय से संचालित होता है। इसलिए शासक को केवल नैतिक आदर्शों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। यदि राज्य की सुरक्षा और स्थिरता के लिए कठोर उपाय आवश्यक हों, तो शासक को उन्हें अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिए।

यहाँ मैकियावेली का सबसे विवादास्पद पक्ष सामने आता है। अक्सर यह कहा जाता है कि "उद्देश्य साधनों को उचित ठहराता है"। यद्यपि यह वाक्य मैकियावेली ने प्रत्यक्ष रूप से नहीं लिखा, किन्तु उनके चिंतन की सामान्य व्याख्या इसी रूप में की जाती है। उनके अनुसार राजनीति का सर्वोच्च उद्देश्य राज्य की सुरक्षा और स्थिरता है।

यदि राज्य नष्ट हो जाएगा, तो नैतिकता और विधि दोनों का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। इसीलिए शासक को परिस्थिति के अनुसार छल, कठोरता, युद्ध या हिंसा का प्रयोग करना पड़ सकता है।

मैकियावेली ने **'द प्रिंस' (*The Prince*)** में शासक के लिए दो प्रकार की शक्तियों का उल्लेख किया। एक शक्ति विधि और नैतिकता की है, दूसरी बल और हिंसा की। उनके अनुसार सफल शासक को सिंह और लोमड़ी दोनों की तरह होना चाहिए। सिंह शक्ति और भय का प्रतीक है, जबकि लोमड़ी चतुराई और रणनीति का। केवल शक्ति पर्याप्त नहीं है क्योंकि शासक को षड्यंत्रों और राजनीतिक चालों को भी समझना होता है।

मैकियावेली का एक अत्यंत प्रसिद्ध प्रश्न है कि शासक के लिए "प्रेम" अधिक उपयोगी है या "भय"। उनका उत्तर था कि आदर्श स्थिति में दोनों होने चाहिए, किन्तु यदि दोनों संभव न हों तो भय अधिक सुरक्षित है। प्रेम परिस्थितियों के साथ बदल सकता है, किन्तु भय शासक की सत्ता को स्थिर बनाए रखता है। फिर भी वे यह चेतावनी देते हैं कि शासक को ऐसा भय उत्पन्न नहीं करना चाहिए जिससे जनता उससे घृणा करने लगे। इस प्रकार मैकियावेली निरर्थक क्रूरता के समर्थक नहीं थे, बल्कि नियंत्रित और राजनीतिक रूप से उपयोगी कठोरता के पक्षधर थे।

मैकियावेली के चिंतन में वर्चू (Virtù) और "फॉर्चूना" (Fortuna) की अवधारणाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वर्चू का अर्थ पारंपरिक नैतिक सद्गुण नहीं है। यह राजनीतिक क्षमता, साहस, निर्णायकता, रणनीतिक बुद्धिमत्ता और परिस्थितियों को नियंत्रित करने की शक्ति को व्यक्त करता है। फॉर्चूना भाग्य या परिस्थितियों का प्रतीक है। मैकियावेली के अनुसार सफल शासक वह है जो बदलती परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढाल सके और अपने विर्तू के माध्यम से फॉर्चूना को नियंत्रित कर सके।

मैकियावेली का राजनीतिक चिंतन आधुनिक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा से भी जुड़ा हुआ है। वे एक शक्तिशाली और एकीकृत इटली की कल्पना करते थे। उस समय इटली विदेशी हस्तक्षेप और आंतरिक विखंडन से कमजोर हो चुका था। मैकियावेली का मानना था कि एक सक्षम और शक्तिशाली शासक ही इटली को एकीकृत कर सकता है। इस अर्थ में उनका चिंतन प्रारंभिक राष्ट्रवाद से भी जुड़ा हुआ दिखाई देता है।

मैकियावेली को लेकर राजनीतिक सिद्धांत में गहरी बहसें रही हैं। कुछ विद्वान उन्हें अनैतिक राजनीति का समर्थक मानते हैं, जबकि अन्य उन्हें आधुनिक यथार्थवादी राजनीति का प्रथम वैज्ञानिक विश्लेषक मानते हैं। लियो स्ट्रॉस ने उन्हें "बुराई का शिक्षक" कहा, जबकि क्वेंटिन स्किनर जैसे विद्वानों ने यह तर्क दिया कि मैकियावेली को उनके ऐतिहासिक संदर्भ में समझना चाहिए। स्किनर के अनुसार मैकियावेली का उद्देश्य अराजक और विभाजित इटली को स्थिर राजनीतिक व्यवस्था प्रदान करना था।

कुछ आधुनिक विद्वान यह भी तर्क देते हैं कि मैकियावेली पूरी तरह नैतिकता-विरोधी नहीं थे। वे केवल यह दिखाना चाहते थे कि राजनीति की अपनी विशिष्ट वास्तविकताएँ होती हैं, जिन्हें केवल धार्मिक या आदर्शवादी नैतिकता से नहीं समझा जा सकता। इसीलिए वे राजनीति को स्वायत्त क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

समकालीन राजनीति में मैकियावेली की प्रासंगिकता स्पष्ट दिखाई देती है। आधुनिक चुनावी राजनीति, जनमत-निर्माण, रणनीतिक गठबंधन, शक्ति-संतुलन, राष्ट्रवाद और अंतरराष्ट्रीय संबंधों में उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण की झलक मिलती है। अनेक आधुनिक नेता जन-समर्थन, भय, प्रचार और राजनीतिक रणनीति के माध्यम से सत्ता को स्थिर बनाए रखने का प्रयास करते हैं। डिजिटल राजनीति और मीडिया-प्रबंधन के युग में भी मैकियावेली की अंतर्दृष्टियाँ प्रासंगिक प्रतीत होती हैं।

फिर भी मैकियावेली का चिंतन लोकतंत्र और नैतिक राजनीति के लिए चुनौतीपूर्ण प्रश्न उठाता है। यदि राज्यहित सर्वोच्च है, तो उसकी सीमाएँ क्या होंगी? क्या शासक को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त किया जा सकता है? क्या शक्ति की राजनीति अंततः अधिनायकवाद को जन्म देती है? ये प्रश्न आज भी राजनीतिक सिद्धांत और अंतरराष्ट्रीय राजनीति की केंद्रीय बहसों में शामिल हैं।

2.3 कौटिल्य : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, व्यक्तित्व एवं राजनीतिक चिंतन

कौटिल्य भारतीय राजनीतिक चिंतन के सबसे महत्त्वपूर्ण और यथार्थवादी विचारकों में गिने जाते हैं। उन्हें चाणक्य और विष्णुगुप्त नामों से भी जाना जाता है। परंपरा के अनुसार वे चंद्रगुप्त मौर्य के मार्गदर्शक, मंत्री और रणनीतिक सलाहकार थे। उनका समय सामान्यतः चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, जब भारतीय उपमहाद्वीप में राजनीतिक विखंडन, महाजनपदों की प्रतिस्पर्धा, नंद वंश की शक्ति और उत्तर-पश्चिम से सिकंदर के आक्रमण जैसी परिस्थितियाँ उपस्थित थीं। यह वह समय था जब एक शक्तिशाली, संगठित और केंद्रीकृत राज्य की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में कौटिल्य का राजनीतिक चिंतन विकसित हुआ।

कौटिल्य की प्रमुख कृति 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) है। यह केवल अर्थव्यवस्था पर लिखी गई पुस्तक नहीं है, जैसा कि इसके नाम से पहली दृष्टि में लग सकता है। प्राचीन भारतीय परंपरा में "अर्थ" का संबंध धन, संसाधन, राज्य-व्यवस्था, शक्ति और भौतिक जीवन की सुरक्षा से था। इसलिए 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) राज्यकला, प्रशासन, दण्डनीति, कर-व्यवस्था, गुप्तचर तंत्र, युद्धनीति, कूटनीति और लोककल्याण का विस्तृत ग्रंथ है। आर. पी. कांगले, एल. एन. रंगराजन और वी. आर. मेहता जैसे विद्वानों ने इसे भारतीय राजनीतिक यथार्थवाद का अत्यंत विकसित दस्तावेज माना है।

कौटिल्य का चिंतन इस धारणा को चुनौती देता है कि भारतीय राजनीतिक विचार केवल आध्यात्मिक, धार्मिक या नैतिक उपदेशों पर आधारित था। 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) राजनीति को अत्यंत व्यावहारिक रूप में समझता है। इसमें राज्य को चलाने की ठोस प्रशासनिक संरचना मिलती है। राजा, मंत्री, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र जैसे तत्वों को राज्य की स्थिरता के लिए आवश्यक माना गया है। कौटिल्य का प्रसिद्ध सप्तांग सिद्धांत राज्य को सात अंगों से निर्मित मानता है: स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। इससे स्पष्ट होता है कि उनके लिए राज्य केवल राजा नहीं है, बल्कि प्रशासनिक, आर्थिक, सैन्य और कूटनीतिक संरचनाओं का संयुक्त संगठन है।

कौटिल्य के चिंतन में राजा की भूमिका अत्यंत केंद्रीय है, परंतु राजा को मनमाना शासक नहीं माना गया। राजा का प्रमुख दायित्व राज्य की रक्षा, प्रजा का कल्याण, न्याय की स्थापना और आर्थिक समृद्धि सुनिश्चित करना है। कौटिल्य स्पष्ट करते हैं कि राजा का सुख प्रजा के सुख में निहित है। यह कथन उनके राजनीतिक यथार्थवाद को केवल कठोर शक्ति-राजनीति तक सीमित नहीं रहने देता। वे जानते हैं कि राज्य की स्थिरता केवल भय से नहीं, बल्कि प्रशासनिक दक्षता, आर्थिक व्यवस्था और प्रजा की संतुष्टि से भी आती है।

कौटिल्य की दण्डनीति उनकी राजनीतिक विचारधारा का केंद्रीय तत्व है। दण्ड का अर्थ केवल दंडित करना नहीं है, बल्कि शासन की विधिक और प्रशासनिक शक्ति है। उनके अनुसार यदि दण्ड का उचित प्रयोग न हो तो समाज में अराजकता फैल जाती है। परंतु दण्ड का प्रयोग अत्यधिक या अन्यायपूर्ण भी नहीं होना चाहिए। यह विचार महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कौटिल्य अराजकता से बचने के लिए मजबूत राज्य का समर्थन करते हैं, लेकिन साथ ही शासन को नियमबद्ध और संगठित भी मानते हैं।

कौटिल्य की राज्यकला का एक प्रमुख पक्ष गुप्तचर व्यवस्था है। 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में गुप्तचरों की विस्तृत व्यवस्था मिलती है। साधु, व्यापारी, संन्यासी, गृहस्थ, विद्यार्थी या अन्य रूपों में गुप्तचर राज्य के भीतर और बाहर सूचना-संग्रह करते थे। कौटिल्य के लिए सूचना शक्ति का आधार थी। शासक को केवल सैन्य बल से नहीं, बल्कि सूचना, रणनीति और पूर्वानुमान से भी शासन करना चाहिए। आधुनिक राष्ट्रीय सुरक्षा राज्य, खुफिया एजेंसियाँ और रणनीतिक अध्ययन इस दृष्टि से कौटिल्य की प्रासंगिकता को स्पष्ट करते हैं।

कौटिल्य का मंडल सिद्धांत उनकी विदेश नीति का सबसे प्रसिद्ध भाग है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्यों के बीच संबंध स्थायी मित्रता या स्थायी शत्रुता पर नहीं, बल्कि शक्ति-संतुलन और हितों पर आधारित होते हैं। सामान्यतः निकटवर्ती राज्य संभावित शत्रु हो सकता है और शत्रु का शत्रु संभावित मित्र हो सकता है। यह सिद्धांत आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों के यथार्थवादी दृष्टिकोण से मिलता-जुलता प्रतीत होता है, जहाँ राष्ट्रीय हित, शक्ति-संतुलन और रणनीतिक गठबंधन प्रमुख भूमिका निभाते हैं। हालांकि यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मंडल सिद्धांत को यांत्रिक सूत्र की तरह नहीं समझना चाहिए। कौटिल्य परिस्थिति, शक्ति, समय और लाभ का विवेकपूर्ण आकलन करने पर बल देते हैं।

कौटिल्य ने विदेश नीति के छह उपायों का उल्लेख किया है, जिन्हें **षाड्गुण्य नीति** कहा जाता है: संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। संधि का अर्थ समझौता या शांति, विग्रह का अर्थ युद्ध, यान का अर्थ सैन्य अभियान, आसन का अर्थ प्रतीक्षा या तटस्थता, संश्रय का अर्थ किसी शक्तिशाली राज्य का आश्रय लेना, और द्वैधीभाव का अर्थ एक साथ शांति और युद्ध की मिश्रित नीति अपनाना है। यह नीति बताती है कि कौटिल्य विदेश संबंधों को नैतिक घोषणाओं के आधार पर नहीं, बल्कि रणनीतिक विवेक और परिस्थिति की गणना के आधार पर समझते थे।

कौटिल्य की युद्धनीति भी अत्यंत व्यावहारिक है। वे खुले युद्ध, गुप्त युद्ध और कूटनीतिक उपायों के प्रयोग को परिस्थितियों के अनुसार वैध मानते हैं। उनके लिए युद्ध अंतिम विकल्प हो सकता है, लेकिन यदि राज्यहित में आवश्यक हो तो उसका प्रयोग किया जाना चाहिए। वे शत्रु को केवल सैन्य शक्ति से हराने की बात नहीं करते, बल्कि आर्थिक दबाव, आंतरिक असंतोष, गुप्तचरी, गठबंधन और मनोवैज्ञानिक उपायों का भी वर्णन करते हैं। इसी कारण कौटिल्य को भारतीय रणनीतिक चिंतन का महत्त्वपूर्ण आधार माना जाता है।

फिर भी कौटिल्य को केवल चालाकी, षड्यंत्र और कठोरता का विचारक मानना गलत होगा। उनके चिंतन में आर्थिक प्रशासन, कृषि, व्यापार, कर, सिंचाई, नगर व्यवस्था, न्यायपालिका और सामाजिक स्थिरता पर भी पर्याप्त बल मिलता है। वे राज्य को आर्थिक रूप से मजबूत बनाने के लिए संगठित कर-व्यवस्था और उत्पादन-वृद्धि पर जोर देते हैं। उनके लिए कोष राज्य का महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि बिना आर्थिक संसाधनों के न सेना चल सकती है, न प्रशासन, न लोककल्याण।

कौटिल्य और मैकियावेली की तुलना करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि दोनों राजनीतिक यथार्थवादी हैं, परंतु उनका यथार्थवाद समान नहीं है। मैकियावेली का चिंतन यूरोपीय नगर-राज्यों की सत्ता-संघर्षपूर्ण राजनीति से जुड़ा है, जबकि कौटिल्य का चिंतन एक व्यापक साम्राज्य-निर्माण और प्रशासनिक स्थिरता की परियोजना से जुड़ा है। मैकियावेली 'द प्रिंस' (*The Prince*) में मुख्यतः शासक की सत्ता-सुरक्षा पर बल देते हैं, जबकि कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में राज्य के लगभग सभी अंगों का व्यवस्थित विश्लेषण करते हैं। इस दृष्टि से कौटिल्य का ग्रंथ प्रशासनिक और संस्थागत दृष्टि से अधिक व्यापक है।

कौटिल्य के चिंतन पर भी आलोचनाएँ की गई हैं। कुछ विद्वान उन्हें अत्यधिक कठोर, गुप्तचर-प्रधान और सत्ता-केंद्रित विचारक मानते हैं। उनके यहाँ छल, दमन और गुप्त उपायों का समर्थन आधुनिक लोकतांत्रिक नैतिकता की दृष्टि से समस्याग्रस्त प्रतीत हो सकता है। फिर भी यह समझना आवश्यक है कि कौटिल्य का चिंतन अपने ऐतिहासिक संदर्भ में राज्य-निर्माण, सुरक्षा और राजनीतिक स्थिरता की चिंता से प्रेरित था। उन्हें आधुनिक उदार लोकतंत्र के मानकों से सीधे मापना उचित नहीं होगा, परंतु उनके विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा अवश्य आवश्यक है।

समकालीन भारत में कौटिल्य की प्रासंगिकता विशेष रूप से विदेश नीति, राष्ट्रीय सुरक्षा, प्रशासन और रणनीतिक चिंतन के संदर्भ में दिखाई देती है। भारत के पड़ोसी देशों के साथ संबंध, शक्ति-संतुलन, समुद्री सुरक्षा, आर्थिक कूटनीति और बहुध्रुवीय विश्व-व्यवस्था को समझने में कई विशेषज्ञ कौटिल्य के विचारों का उपयोग करते हैं। हालांकि सावधानी यह है कि कौटिल्य को केवल वर्तमान राजनीति को वैध ठहराने वाले प्रतीक के रूप में न पढ़ा जाए। उन्हें उनके ऐतिहासिक संदर्भ और बौद्धिक जटिलता के साथ समझना चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य भारतीय राजनीतिक चिंतन में शक्ति, शासन और रणनीति के महान सिद्धांतकार हैं। वे यह दिखाते हैं कि भारतीय परंपरा में राजनीति को केवल आध्यात्मिक या नैतिक भाषा में नहीं समझा गया, बल्कि राज्य, शक्ति, अर्थव्यवस्था, प्रशासन और कूटनीति पर अत्यंत गहन और व्यावहारिक चिंतन हुआ। 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) इस बात का प्रमाण है कि भारतीय राजनीतिक चिंतन में यथार्थवाद, संस्थागत विश्लेषण और राज्यकला की समृद्ध परंपरा मौजूद रही है।

2.4 मैकियावेली और कौटिल्य : राज्यकला एवं राजनीतिक यथार्थवाद का तुलनात्मक अध्ययन

मैकियावेली और कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है क्योंकि दोनों विचारक राजनीति को आदर्शवादी नैतिकता के बजाय शक्ति, रणनीति, राज्यहित और यथार्थवादी परिस्थितियों के आधार पर समझने का प्रयास करते हैं। दोनों ऐसे ऐतिहासिक कालों में उभरे जब राजनीतिक विखंडन, षड्यंत्र, युद्ध और सत्ता-संघर्ष तीव्र रूप में उपस्थित थे। इसी कारण दोनों का चिंतन राज्य की स्थिरता, सुरक्षा और शक्ति-संचयन पर केंद्रित दिखाई देता है। फिर भी उनके ऐतिहासिक संदर्भ, राजनीतिक लक्ष्य100 और दार्शनिक पृष्ठभूमि में महत्त्वपूर्ण अंतर मौजूद हैं।

मैकियावेली पुनर्जागरणकालीन इटली के विचारक थे, जहाँ अनेक नगर-राज्यों के बीच संघर्ष चल रहा था और विदेशी शक्तियाँ हस्तक्षेप कर रही थीं। उनका मुख्य उद्देश्य इटली की राजनीतिक एकता और स्थिरता था। दूसरी ओर कौटिल्य का चिंतन प्राचीन भारत में साम्राज्य-निर्माण और केंद्रीकृत शासन की आवश्यकता से जुड़ा था। वे मौर्य साम्राज्य की स्थापना की ऐतिहासिक प्रक्रिया से जुड़े हुए थे। इस प्रकार दोनों विचारकों की राजनीतिक चिंता राज्य की सुरक्षा और शक्ति से जुड़ी हुई थी, किन्तु मैकियावेली मुख्यतः विखंडित नगर-राज्यों के संदर्भ में सोच रहे थे, जबकि कौटिल्य एक विस्तृत साम्राज्य की प्रशासनिक और राजनीतिक संरचना पर विचार कर रहे थे।

दोनों विचारकों के चिंतन में मानव स्वभाव के प्रति गहरा यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखाई देता है। मैकियावेली के अनुसार मनुष्य स्वार्थी, अस्थिर और भय से संचालित होता है। इसलिए शासक को केवल नैतिक आदर्शों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। इसी प्रकार कौटिल्य भी मानव व्यवहार को शक्ति, लाभ और भय से प्रभावित मानते हैं। वे जानते हैं कि केवल सद्भावना के आधार पर राज्य को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। इसलिए दोनों विचारकों के यहाँ मजबूत शासन, गुप्तचर व्यवस्था, दण्डनीति और रणनीतिक विवेक पर बल मिलता है।

फिर भी दोनों के यथार्थवाद में अंतर है। मैकियावेली राजनीति को लगभग पूर्णतः स्वायत्त क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'द प्रिंस' (*The Prince*) में वे यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि शासक को परिस्थितियों के अनुसार नैतिकता से हटकर भी कार्य करना पड़ सकता है। राज्यहित सर्वोच्च राजनीतिक उद्देश्य बन जाता है। इसके विपरीत कौटिल्य यद्यपि कठोर दण्डनीति और रणनीतिक उपायों का समर्थन करते हैं, फिर भी उनके यहाँ राज्य का संबंध लोककल्याण, सामाजिक व्यवस्था और राजधर्म से बना रहता है। 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में बार-बार यह कहा गया है कि राजा का हित प्रजा के हित से जुड़ा है। इस कारण कौटिल्य का यथार्थवाद प्रशासनिक और सामाजिक दृष्टि से अधिक व्यापक प्रतीत होता है।

मैकियावेली और कौटिल्य दोनों शासक की क्षमता पर विशेष बल देते हैं। मैकियावेली के यहाँ "वर्चू" (*Virtù*) की अवधारणा शासक की राजनीतिक दक्षता, साहस, निर्णायकता और परिस्थिति-नियंत्रण की क्षमता को व्यक्त करती है। सफल शासक वह है जो बदलती परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढाल सके। कौटिल्य भी राजा में आत्मसंयम, बुद्धिमत्ता, रणनीतिक विवेक और प्रशासनिक दक्षता को आवश्यक मानते हैं। वे राजा को निरंतर अध्ययन, परामर्श और अनुशासन की सलाह देते हैं। इस प्रकार दोनों विचारकों के लिए सफल शासन केवल वंश या धार्मिक वैधता का परिणाम नहीं, बल्कि राजनीतिक क्षमता का प्रश्न भी है।

दोनों विचारकों ने गुप्तचर व्यवस्था को अत्यंत महत्त्व दिया। मैकियावेली शासक को राजनीतिक षड्यंत्रों, विश्वासघात और सत्ता-संघर्ष के प्रति सतर्क रहने की सलाह देते हैं। दूसरी ओर कौटिल्य ने गुप्तचरों की अत्यंत विस्तृत व्यवस्था विकसित की। उनके अनुसार शासक को राज्य के भीतर और बाहर होने वाली गतिविधियों की निरंतर जानकारी होनी चाहिए। आधुनिक राष्ट्रीय सुरक्षा तंत्र और खुफिया एजेंसियों के संदर्भ में दोनों विचारकों की प्रासंगिकता स्पष्ट दिखाई देती है।

विदेश नीति और युद्ध के प्रश्न पर भी दोनों में समानताएँ मिलती हैं। मैकियावेली के अनुसार राज्य को अपनी सुरक्षा और शक्ति के लिए सैन्य क्षमता आवश्यक रूप से विकसित करनी चाहिए। वे भाड़े की सेनाओं पर निर्भरता का विरोध करते हैं और राष्ट्रीय सेना का समर्थन करते हैं। कौटिल्य भी शक्तिशाली सेना, रणनीतिक गठबंधन और परिस्थिति-आधारित कूटनीति पर बल देते हैं। उनका मंडल सिद्धांत आधुनिक शक्ति-संतुलन सिद्धांत से कई स्तरों पर मेल खाता है। दोनों विचारकों के यहाँ राजनीति नैतिक उपदेशों की अपेक्षा व्यावहारिक रणनीति से अधिक संचालित होती दिखाई देती है।

फिर भी दोनों के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर राज्य की संरचना और प्रशासनिक दृष्टिकोण में दिखाई देता है। मैकियावेली का चिंतन मुख्यतः सत्ता-सुरक्षा और राजनीतिक नेतृत्व पर केंद्रित है। वे प्रशासनिक संस्थाओं का उतना विस्तृत विश्लेषण नहीं करते जितना कौटिल्य करते हैं। 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में कर-व्यवस्था, कृषि, व्यापार, सिंचाई, न्यायपालिका, नगर प्रशासन और आर्थिक संगठन का विस्तृत विवरण मिलता है। इस दृष्टि से कौटिल्य का चिंतन केवल राजनीतिक सत्ता तक सीमित नहीं, बल्कि व्यापक शासन-व्यवस्था का सिद्धांत प्रस्तुत करता है।

मैकियावेली और कौटिल्य दोनों को लेकर आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में अनेक बहसें हुई हैं। कुछ विद्वान दोनों को "अनैतिक राजनीति" का समर्थक मानते हैं क्योंकि दोनों छल, कठोरता और रणनीतिक हिंसा को वैध मानते हैं। किन्तु अनेक विद्वान यह तर्क देते हैं कि दोनों विचारकों को उनके ऐतिहासिक संदर्भ में समझना चाहिए। वे अराजकता, विखंडन और असुरक्षा के युग में राज्य की स्थिरता की खोज कर रहे थे। यदि राज्य स्वयं अस्थिर हो जाए, तो विधि, नैतिकता और सामाजिक व्यवस्था भी नष्ट हो सकती है। इस दृष्टि से उनका यथार्थवाद राजनीतिक अस्तित्व की चिंता से जुड़ा हुआ था।

समकालीन राजनीति में दोनों विचारकों की प्रासंगिकता बनी हुई है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य आज भी राष्ट्रीय हित, सुरक्षा, शक्ति-संतुलन, कूटनीति और रणनीतिक गठबंधन के आधार पर कार्य करते हैं। अंतरराष्ट्रीय संबंधों का यथार्थवादी सिद्धांत, जिसे हंस मॉर्गेन्थाउ और केनेथ वाल्ट्ज जैसे विचारकों ने विकसित किया, कई स्तरों पर मैकियावेली और कौटिल्य की परंपरा से जुड़ा हुआ है। भारत की विदेश नीति, पड़ोसी देशों के साथ संबंध, इंडो-पैसिफिक रणनीति, सीमा-सुरक्षा और सामरिक साझेदारियों की चर्चा में भी कौटिल्य का उल्लेख बार-बार किया जाता है। इसी प्रकार आधुनिक चुनावी राजनीति, सत्ता-प्रबंधन और राजनीतिक नेतृत्व के विश्लेषण में मैकियावेली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

फिर भी आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति में इन दोनों विचारकों के संदर्भ में सावधानी आवश्यक है। यदि राज्यहित को पूर्णतः सर्वोच्च मान लिया जाए, तो नागरिक स्वतंत्रता, नैतिक उत्तरदायित्व और लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसीलिए आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में यथार्थवाद और नैतिक राजनीति के बीच संतुलन की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। गांधी, आंबेडकर और आधुनिक मानवाधिकार परंपरा यह प्रश्न उठाती है कि क्या शक्ति और राज्य-सुरक्षा के नाम पर नैतिक सीमाओं की उपेक्षा की जा सकती है।

इस प्रकार मैकियावेली और कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारतीय और पाश्चात्य दोनों परंपराओं में राजनीतिक यथार्थवाद की समृद्ध परंपरा मौजूद रही है। दोनों विचारकों ने राजनीति को वास्तविक शक्ति-संबंधों, राज्यहित और रणनीतिक विवेक के आधार पर समझने का प्रयास किया। किन्तु कौटिल्य का चिंतन प्रशासनिक और सामाजिक दृष्टि से अधिक व्यापक दिखाई देता है, जबकि मैकियावेली आधुनिक राज्य और राजनीतिक नेतृत्व की स्वायत्तता को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। दोनों का अध्ययन समकालीन राजनीति, अंतरराष्ट्रीय संबंधों और राज्यकला को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

2.5 राज्यकला की अवधारणा : शक्ति, नैतिकता और शासन का प्रश्न

राज्यकला का अर्थ केवल शासन करने की तकनीक नहीं है। यह उस संपूर्ण राजनीतिक बुद्धि को व्यक्त करती है जिसके माध्यम से राज्य को संगठित, सुरक्षित, स्थिर और प्रभावी बनाया जाता है। राज्यकला में सत्ता-संचालन, प्रशासनिक दक्षता, कूटनीति, युद्धनीति, कर-व्यवस्था, गुप्तचर तंत्र, न्याय, दण्ड और प्रजा-कल्याण जैसे अनेक तत्व सम्मिलित होते हैं। मैकियावेली और कौटिल्य को राज्यकला के अध्ययन में इसलिए साथ पढ़ाया जाता है क्योंकि दोनों विचारक राजनीति को केवल आदर्शों, धार्मिक उपदेशों या नैतिक घोषणाओं के आधार पर नहीं समझते, बल्कि वे यह देखते हैं कि सत्ता वास्तव में कैसे चलती है, राज्य कैसे सुरक्षित रहता है और शासक को बदलती परिस्थितियों में किस प्रकार निर्णय लेना चाहिए।

सिलेबस में इस इकाई का केंद्रीय उद्देश्य यही है कि विद्यार्थी भारतीय और पाश्चात्य परंपराओं के भीतर राज्यकला की अवधारणा को तुलनात्मक रूप से समझ सकें। टॉम बर्न्स का अरस्तू पर लेख, वी. आर. मेहता की **'फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट' (*Foundations of Indian Political Thought*)**, जे. स्पेलमैन की **'पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ एंशिएंट इंडिया' (*Political Theory of Ancient India*)**, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) और मैकियावेली का 'द प्रिंस' (*The Prince*) इस इकाई के लिए इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये सभी अलग-अलग ऐतिहासिक और बौद्धिक परंपराओं में राज्य, शक्ति और शासन के प्रश्न को समझने का आधार देते हैं।

अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' (*Politics*) में राज्य का उद्देश्य "अच्छा जीवन" माना गया है। अरस्तू के लिए राज्य केवल सुरक्षा देने वाली संस्था नहीं है, बल्कि नैतिक जीवन का माध्यम है। इसके विपरीत मैकियावेली राजनीति

को नैतिक आदर्शों से कुछ हद तक अलग करके राज्य की सुरक्षा, शक्ति और स्थिरता पर केंद्रित करते हैं। यह अंतर पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के भीतर ही एक बड़ा परिवर्तन दिखाता है। प्राचीन यूनानी राजनीति में राज्य नैतिक समुदाय था, जबकि आधुनिक राजनीति में राज्य शक्ति और संप्रभुता की संस्था बनता गया। मैकियावेली इस परिवर्तन के निर्णायक विचारक हैं।

इसी प्रकार भारतीय परंपरा में भी राज्य को केवल धार्मिक नैतिकता के आधार पर नहीं समझा गया। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) यह दिखाता है कि प्राचीन भारत में राज्य-व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, सैन्य शक्ति, गुप्तचर तंत्र और कूटनीति पर अत्यंत व्यवस्थित चिंतन उपलब्ध था। वी. आर. मेहता ने 'फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट' (*Foundations of Indian Political Thought*) में यह स्पष्ट किया है कि भारतीय राजनीतिक चिंतन को केवल आध्यात्मिक या धार्मिक कह देना एक औपनिवेशिक सरलीकरण है। कौटिल्य का चिंतन इस सरलीकरण को अस्वीकार करता है क्योंकि उसमें शक्ति, सुरक्षा और प्रशासन का कठोर यथार्थवादी विवेचन मिलता है।

राज्यकला का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राजनीति और नैतिकता का संबंध क्या होना चाहिए। क्या शासक को सदैव नैतिक होना चाहिए, या राज्य की सुरक्षा के लिए कभी-कभी कठोर और नैतिक रूप से संदिग्ध उपाय अपनाए जा सकते हैं? मैकियावेली इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट यथार्थवादी रूप में देते हैं। 'द प्रिंस' (*The Prince*) में वे कहते हैं कि शासक को यह सीखना चाहिए कि "अच्छा न होना" कब आवश्यक हो सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अनावश्यक क्रूरता के समर्थक हैं, बल्कि वे यह मानते हैं कि राजनीति में आदर्श नैतिकता और व्यावहारिक आवश्यकता के बीच तनाव रहता है।

कौटिल्य भी इसी प्रकार राजनीति को कठोर यथार्थ के रूप में समझते हैं। वे शत्रु को पराजित करने के लिए गुप्तचर, भेद, दण्ड, संधि, युद्ध, आश्रय और छल जैसे उपायों को स्वीकार करते हैं। परंतु कौटिल्य के यहाँ राज्यकला केवल सत्ता-संरक्षण नहीं है। वे राज्य को आर्थिक समृद्धि, विधि, प्रशासन और प्रजा-कल्याण से भी जोड़ते हैं। इसीलिए कौटिल्य का यथार्थवाद मैकियावेली की अपेक्षा अधिक संस्थागत और प्रशासनिक रूप में विकसित दिखाई देता है।

राज्यकला का दूसरा प्रमुख तत्व सत्ता और वैधता का संबंध है। कोई भी राज्य केवल बल से नहीं चल सकता। यदि राज्य के पास बल है परंतु वैधता नहीं है, तो वह लगातार विद्रोह, असंतोष और अस्थिरता से घिरा रहेगा। मैकियावेली भी यह जानते हैं कि शासक को जनता की घृणा से बचना चाहिए। वे शासक को भय उत्पन्न करने की अनुमति देते हैं, परंतु घृणा उत्पन्न करने की नहीं। इसका अर्थ है कि उनके यहाँ भी सत्ता की स्थिरता के लिए जनता की स्वीकृति और नियंत्रण में संतुलन आवश्यक है।

कौटिल्य इस प्रश्न को अधिक स्पष्ट रूप से लोककल्याण से जोड़ते हैं। उनके लिए राजा का सुख प्रजा के सुख में है। यदि कर अत्यधिक होगा, प्रशासन भ्रष्ट होगा, न्याय नहीं मिलेगा या सुरक्षा नहीं होगी, तो राज्य दुर्बल हो जाएगा। इसलिए कौटिल्य राज्य को केवल युद्ध और दण्ड की संस्था नहीं बनाते। वे आर्थिक उत्पादन, कृषि, व्यापार, सिंचाई, कर-संग्रह, न्याय और प्रशासनिक निरीक्षण को राज्य की शक्ति का मूल मानते हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिक शासन-प्रशासन के लिए भी प्रासंगिक है।

राज्यकला का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्व रणनीतिक विवेक है। मैकियावेली और कौटिल्य दोनों मानते हैं कि शासक को परिस्थितियों का सही आकलन करना चाहिए। राजनीति में स्थिर नियम हमेशा पर्याप्त नहीं होते। समय, स्थान, शक्ति-संतुलन और अवसर के अनुसार निर्णय लेना पड़ता है। मैकियावेली की "वर्चू" (*Virtù*) इसी क्षमता का

नाम है। "फॉर्चूना" (*Fortuna*) परिस्थितियों और भाग्य की अनिश्चितता का प्रतीक है। सफल शासक वह है जो "वर्चू" के माध्यम से "फॉर्चूना" को नियंत्रित कर सके।

कौटिल्य भी परिस्थिति-विश्लेषण पर अत्यधिक बल देते हैं। उनकी षाड्गुण्य नीति इस बात का उदाहरण है कि विदेश नीति में कोई एक स्थायी उपाय पर्याप्त नहीं होता। कभी संधि करनी पड़ती है, कभी युद्ध, कभी प्रतीक्षा, कभी आश्रय और कभी दोहरी नीति। यह दृष्टिकोण आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों के यथार्थवाद से जुड़ता है, जहाँ राज्यों के बीच संबंध नैतिक घोषणाओं से अधिक शक्ति-संतुलन और राष्ट्रीय हितों पर आधारित माने जाते हैं।

राज्यकला का चौथा पक्ष सूचना और ज्ञान है। आधुनिक राजनीति में भी सूचना-संग्रह, डाटा, खुफिया तंत्र, जनमत-विश्लेषण और रणनीतिक संचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था को राज्य की आँख और कान माना। शासक को केवल दरबार की सूचनाओं पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, बल्कि उसे समाज, प्रशासन, सेना और शत्रु राज्यों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होना चाहिए। मैकियावेली भी राजनीतिक षड्यंत्र, विश्वासघात और शक्ति-संतुलन को समझने की आवश्यकता पर बल देते हैं।

राज्यकला का पाँचवाँ पक्ष सैन्य शक्ति है। मैकियावेली ने भाड़े की सेनाओं की तीखी आलोचना की। उनके अनुसार जो राज्य अपनी रक्षा दूसरों की सेना पर छोड़ देता है, वह स्थिर नहीं रह सकता। शासक को अपनी सेना और जनता पर आधारित शक्ति-संरचना बनानी चाहिए। कौटिल्य भी सेना को राज्य का प्रमुख अंग मानते हैं। सप्तांग सिद्धांत में "दण्ड" राज्य की सैन्य और दमनकारी शक्ति का प्रतीक है। परंतु सेना केवल युद्ध के लिए नहीं, बल्कि आंतरिक सुरक्षा और राज्य की प्रतिष्ठा के लिए भी आवश्यक है।

राज्यकला का अंतिम और गहरा प्रश्न यह है कि क्या राज्यहित नैतिकता से ऊपर हो सकता है। यह प्रश्न आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर नागरिक स्वतंत्रता सीमित की जा सकती है या नहीं? आतंकवाद, सीमा-संघर्ष, साइबर युद्ध, निगरानी और आंतरिक विद्रोह जैसी स्थितियों में राज्य किन सीमाओं तक जा सकता है? मैकियावेली और कौटिल्य दोनों इन प्रश्नों के ऐतिहासिक स्रोत हैं, परंतु आधुनिक लोकतंत्रों में उनका उपयोग सावधानी से करना आवश्यक है।

इसलिए राज्यकला की अवधारणा को समझते समय हमें तीन स्तरों पर विचार करना चाहिए। पहला, राज्य की सुरक्षा और स्थिरता के लिए शक्ति आवश्यक है। दूसरा, शक्ति यदि नैतिक और सामाजिक वैधता से रहित हो जाए तो वह दमनकारी बन सकती है। तीसरा, शासक या राज्य को परिस्थिति का यथार्थवादी आकलन करना चाहिए, परंतु लोकतांत्रिक युग में उसे नागरिक अधिकारों, न्याय और सार्वजनिक उत्तरदायित्व से भी बँधा होना चाहिए। यही तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का वास्तविक योगदान है कि वह मैकियावेली और कौटिल्य को केवल सत्ता-संचालन के विचारक के रूप में नहीं, बल्कि राजनीति, नैतिकता और शक्ति के जटिल संबंधों को समझने वाले विचारकों के रूप में पढ़ता है।

2.6 मैकियावेली और कौटिल्य : नैतिकता, सत्ता और राजनीतिक व्यवहार

मैकियावेली और कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन का सबसे विवादास्पद और बौद्धिक रूप से चुनौतीपूर्ण पक्ष राजनीति और नैतिकता के संबंध से जुड़ा हुआ है। दोनों विचारक इस प्रश्न को अत्यंत गंभीरता से लेते हैं कि क्या राज्य को केवल नैतिक आदर्शों के आधार पर संचालित किया जा सकता है, अथवा राजनीतिक जीवन की वास्तविकताएँ शासक को ऐसे निर्णय लेने के लिए बाध्य करती हैं जो पारंपरिक नैतिकता से मेल नहीं खाते। यही कारण है कि दोनों विचारकों को कई बार "राजनीतिक यथार्थवाद" की परंपरा में रखा जाता है।

मध्यकालीन यूरोप में राजनीति को ईसाई नैतिकता के अधीन समझा जाता था। शासक से अपेक्षा की जाती थी कि वह धार्मिक सद्गुणों का पालन करे और ईश्वर की इच्छा के अनुसार शासन करे। मैकियावेली ने इस दृष्टिकोण को निर्णायक चुनौती दी। 'द प्रिंस' (*The Prince*) में वे बार-बार यह संकेत देते हैं कि राजनीति का क्षेत्र नैतिक उपदेशों की तुलना में कहीं अधिक जटिल और अस्थिर है। यदि शासक केवल आदर्शवादी नैतिकता का पालन करेगा, तो वह सत्ता-संघर्ष में असफल हो सकता है और राज्य असुरक्षित हो जाएगा।

मैकियावेली का यह दृष्टिकोण पुनर्जागरणकालीन इटली की वास्तविक राजनीति से उत्पन्न हुआ था। फ्लोरेंस, वेनिस, मिलान और पोप राज्यों के बीच निरंतर षड्यंत्र, विश्वासघात और युद्ध की स्थिति थी। विदेशी सेनाएँ इटली में हस्तक्षेप कर रही थीं। ऐसी परिस्थितियों में मैकियावेली के लिए राजनीति का प्रश्न यह नहीं था कि आदर्श शासक कैसा होना चाहिए, बल्कि यह था कि वास्तविक परिस्थितियों में राज्य को कैसे बचाया जाए। इसी कारण वे शासक को परिस्थितियों के अनुसार कठोरता, छल और रणनीति का प्रयोग करने की सलाह देते हैं।

फिर भी यह समझना आवश्यक है कि मैकियावेली अराजक क्रूरता के समर्थक नहीं थे। वे अनियंत्रित हिंसा को राजनीतिक मूर्खता मानते हैं। उनके अनुसार यदि कठोरता आवश्यक हो तो उसका प्रयोग तेज, सीमित और राजनीतिक रूप से उपयोगी होना चाहिए। लंबे समय तक चलने वाली क्रूरता जनता में घृणा उत्पन्न करती है और शासक की वैधता को नष्ट कर देती है। इस प्रकार मैकियावेली शक्ति और वैधता के बीच संतुलन को समझते हैं।

मैकियावेली का एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धांत "दिखावे" की राजनीति से जुड़ा है। वे कहते हैं कि शासक को सदैव वास्तव में नैतिक होना आवश्यक नहीं, परंतु उसे नैतिक दिखाई अवश्य देना चाहिए। जनता शासक के निजी चरित्र से अधिक उसकी सार्वजनिक छवि से प्रभावित होती है। आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति, मीडिया-प्रबंधन और जनमत-निर्माण के संदर्भ में यह विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है। समकालीन राजनीतिक नेतृत्व में छवि-निर्माण, प्रचार, प्रतीकों का प्रयोग और भावनात्मक राष्ट्रवाद कई स्तरों पर मैकियावेली की राजनीति की याद दिलाते हैं।

कौटिल्य के चिंतन में भी राजनीति और नैतिकता का संबंध जटिल रूप में उपस्थित है। वे राज्य की सुरक्षा और विस्तार के लिए छल, गुप्तचर, विभाजन और रणनीतिक हिंसा जैसे उपायों को स्वीकार करते हैं। 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में अनेक स्थानों पर शत्रु को कमजोर करने के लिए गुप्त उपायों, दूतों, विषकन्याओं और मनोवैज्ञानिक रणनीतियों का उल्लेख मिलता है। इस कारण कुछ विद्वान कौटिल्य को भारतीय मैकियावेली कहते हैं।

किन्तु यह तुलना पूरी तरह पर्याप्त नहीं है। कौटिल्य का चिंतन केवल सत्ता-सुरक्षा तक सीमित नहीं है। वे शासन को आर्थिक समृद्धि, प्रशासनिक दक्षता और सामाजिक स्थिरता से जोड़ते हैं। उनके लिए राजा की सफलता केवल विजय में नहीं, बल्कि सुव्यवस्थित शासन में भी है। 'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*) में कृषि, सिंचाई, व्यापार, कर-संग्रह, श्रम, वन-संपदा, नगर-व्यवस्था और न्याय-प्रणाली पर विस्तार से चर्चा मिलती है। यह दिखाता है कि कौटिल्य शक्ति को प्रशासनिक संगठन और आर्थिक नियंत्रण से जोड़कर देखते हैं।

कौटिल्य के यहाँ "मत्स्यन्याय" की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि यदि राज्य और दण्ड का अभाव हो जाए, तो शक्तिशाली कमजोर को निगल जाएगा, जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। इसलिए राज्य की आवश्यकता अराजकता को रोकने के लिए है। यह विचार कई स्तरों पर हॉब्स के प्राकृतिक अवस्था सिद्धांत से मिलता-जुलता प्रतीत होता है, यद्यपि दोनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भिन्न है।

कौटिल्य और मैकियावेली दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं कि राजनीति में केवल आदर्शवाद पर्याप्त नहीं है। परंतु दोनों के यथार्थवाद का स्वर अलग है। मैकियावेली राजनीति को नैतिकता से अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र करते हैं। उनके लिए राज्यहित सर्वोच्च राजनीतिक मानदंड बन जाता है। दूसरी ओर कौटिल्य शक्ति और लोककल्याण के बीच संबंध बनाए रखते हैं। वे जानते हैं कि आर्थिक रूप से कमजोर और असंतुष्ट समाज दीर्घकाल तक स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए उनके लिए राज्य की शक्ति का आधार केवल सेना नहीं, बल्कि कोष, प्रशासन और प्रजा भी है।

दोनों विचारकों की तुलना करते समय यह भी समझना आवश्यक है कि वे राजनीति को गतिशील प्रक्रिया मानते हैं। राजनीति में स्थायी मित्रता या शत्रुता नहीं होती। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं और शासक को भी बदलती परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालना पड़ता है। मैकियावेली का "फॉर्चूना" (*Fortuna*) और कौटिल्य की मंडल-राजनीति इसी परिवर्तनशीलता को व्यक्त करते हैं। आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों में भी यही यथार्थ दिखाई देता है। राष्ट्र अपने स्थायी नैतिक सिद्धांतों से अधिक रणनीतिक हितों के आधार पर गठबंधन बनाते और बदलते हैं।

फिर भी आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति में इन दोनों विचारकों को बिना आलोचना के स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि राज्यहित को पूर्णतः सर्वोच्च मान लिया जाए, तो नागरिक स्वतंत्रता, मानवाधिकार और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व कमजोर पड़ सकते हैं। बीसवीं शताब्दी में फासीवाद, सैन्यवाद और अधिनायकवादी शासन ने यह दिखाया कि शक्ति-राजनीति की असीमित स्वीकृति कितनी खतरनाक हो सकती है। इसीलिए आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में यथार्थवाद और नैतिकता के बीच संतुलन की आवश्यकता पर बल दिया जाता है।

गांधी इस संदर्भ में एक वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। उनके लिए साधन और साध्य दोनों नैतिक होने चाहिए। वे राजनीति को नैतिक आत्मसंयम और सत्याग्रह से जोड़ते हैं। आंबेडकर संवैधानिक नैतिकता और विधिक लोकतंत्र पर बल देते हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन मैकियावेली और कौटिल्य की यथार्थवादी राजनीति को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करता, लेकिन उसे लोकतांत्रिक और नैतिक सीमाओं के भीतर पुनर्विचार करता है।

समकालीन विश्व में आतंकवाद, साइबर युद्ध, सीमा-संघर्ष, निगरानी तकनीक और भू-राजनीतिक प्रतिस्पर्धा ने राज्यकला के प्रश्नों को पुनः अत्यंत प्रासंगिक बना दिया है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर राज्य कितनी निगरानी कर सकता है? क्या गुप्त अभियानों को वैध माना जा सकता है? क्या कूटनीति में छल स्वीकार्य है? इन प्रश्नों के उत्तर सरल नहीं हैं। मैकियावेली और कौटिल्य इन जटिलताओं को समझने में सहायता करते हैं, क्योंकि वे राजनीति को केवल आदर्शवाद के क्षेत्र के रूप में नहीं देखते।

इस प्रकार दोनों विचारकों का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि राजनीति केवल नैतिक उपदेशों या कानूनी संस्थाओं का विषय नहीं है। राजनीति शक्ति, भय, वैधता, रणनीति, संगठन और सामाजिक नियंत्रण की जटिल प्रक्रिया है। मैकियावेली और कौटिल्य दोनों इस वास्तविकता को पहचानते हैं, परंतु दोनों की बौद्धिक दिशाएँ अलग हैं। मैकियावेली आधुनिक राज्य और राजनीतिक नेतृत्व की स्वायत्तता को स्पष्ट करते हैं, जबकि कौटिल्य शक्ति को प्रशासन, अर्थव्यवस्था और सामाजिक स्थिरता के व्यापक ढाँचे से जोड़ते हैं। यही कारण है कि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन समकालीन राजनीतिक सिद्धांत और राज्यकला की समझ के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

2.7 राज्य, शक्ति और प्रशासन : संस्थागत दृष्टि से तुलनात्मक विश्लेषण

मैकियावेली और कौटिल्य का अध्ययन केवल दो राजनीतिक विचारकों की तुलना नहीं है, बल्कि यह राज्य की प्रकृति, प्रशासन की भूमिका और शक्ति-संरचना को समझने का भी माध्यम है। दोनों विचारकों ने यह समझ लिया था कि केवल सैन्य बल या व्यक्तिगत नेतृत्व के आधार पर कोई राज्य दीर्घकाल तक स्थिर नहीं रह सकता। स्थिर शासन के लिए संस्थाएँ, प्रशासनिक अनुशासन, आर्थिक संसाधन, सूचना-संग्रह और राजनीतिक नियंत्रण आवश्यक हैं। यही कारण है कि दोनों का चिंतन आधुनिक राज्य-व्यवस्था की प्रारंभिक समझ विकसित करने में महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

मैकियावेली के समय यूरोप में आधुनिक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा आकार ले रही थी। सामंतवाद कमजोर हो रहा था और केंद्रीकृत राजनीतिक सत्ता उभर रही थी। उन्होंने यह देखा कि राजनीतिक विखंडन बाहरी हस्तक्षेप को आमंत्रित करता है। इसलिए उनके लिए एक शक्तिशाली और केंद्रीकृत सत्ता आवश्यक थी। वे विशेष रूप से इस बात पर बल देते हैं कि शासक को अपने राज्य की रक्षा स्वयं करनी चाहिए। जो राज्य अपनी सुरक्षा के लिए भाड़े की सेनाओं या बाहरी शक्तियों पर निर्भर होता है, वह अंततः कमजोर हो जाता है।

यह विचार केवल सैन्य संगठन तक सीमित नहीं था। इसके पीछे आधुनिक राजनीतिक संप्रभुता की अवधारणा विकसित हो रही थी। राज्य को ऐसी संस्था के रूप में देखा जाने लगा जो अपने क्षेत्र, जनता और विधि पर सर्वोच्च नियंत्रण रखती है। आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र-राज्य का निर्माण इसी दिशा में आगे बढ़ा। इस अर्थ में मैकियावेली मध्यकालीन राजनीति और आधुनिक राज्य के बीच संक्रमणकालीन विचारक हैं।

कौटिल्य का दृष्टिकोण अधिक प्रशासनिक और संरचनात्मक है। उनके यहाँ राज्य किसी एक व्यक्ति की निजी शक्ति नहीं है, बल्कि अनेक अंगों का संगठित तंत्र है। प्रशासनिक निरीक्षण, कर-संग्रह, उत्पादन, सेना, न्याय, गुप्तचर और स्थानीय नियंत्रण को वे परस्पर जुड़ी हुई प्रक्रियाओं के रूप में देखते हैं। शासन के लिए केवल साहसी राजा पर्याप्त नहीं है। योग्य अमात्य, प्रशिक्षित अधिकारी, सुव्यवस्थित वित्तीय व्यवस्था और अनुशासित प्रशासन भी उतने ही आवश्यक हैं।

यहीं कौटिल्य आधुनिक प्रशासनिक राज्य की दिशा में अत्यंत उन्नत समझ प्रस्तुत करते हैं। वे अधिकारियों की नियुक्ति, निरीक्षण और परीक्षण पर विशेष बल देते हैं। भ्रष्टाचार की संभावना को वे शासन की स्वाभाविक समस्या मानते हैं। उनका प्रसिद्ध उदाहरण है कि जैसे पानी में रहने वाली मछली पानी पी रही है या नहीं, यह जानना कठिन है, वैसे ही अधिकारी धन का दुरुपयोग कर रहा है या नहीं, यह पकड़ना कठिन होता है। इसलिए वे निरंतर निरीक्षण और गुप्त परीक्षण की व्यवस्था का समर्थन करते हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिक नौकरशाही, लेखा-परीक्षण और प्रशासनिक उत्तरदायित्व की अवधारणाओं से जुड़ता है।

मैकियावेली भी राजनीतिक नेतृत्व में दक्षता और अनुशासन को आवश्यक मानते हैं, किन्तु उनका जोर संस्थागत प्रशासन की अपेक्षा राजनीतिक नियंत्रण और सत्ता-संतुलन पर अधिक है। वे यह समझते हैं कि जनता और अभिजात वर्ग के हित हमेशा समान नहीं होते। अभिजात वर्ग सत्ता और विशेषाधिकार चाहता है, जबकि जनता सुरक्षा और स्थिरता चाहती है। सफल शासक वही है जो इन दोनों शक्तियों के बीच संतुलन बनाए रख सके। यह विचार आधुनिक अभिजात सिद्धांत और राजनीतिक समाजशास्त्र की दिशा में महत्त्वपूर्ण संकेत देता है।

दोनों विचारकों के यहाँ राजनीतिक स्थिरता एक केंद्रीय चिंता है। परंतु स्थिरता का अर्थ केवल दमन नहीं है। यदि जनता पूरी तरह असंतुष्ट हो जाए, तो राज्य असुरक्षित हो जाएगा। इसलिए शासन को वैधता की भी आवश्यकता होती है। मैकियावेली समझते हैं कि जनता की घृणा सत्ता को अस्थिर कर सकती है। कौटिल्य आर्थिक समृद्धि और

न्याय को राजनीतिक स्थिरता का आधार मानते हैं। इस प्रकार दोनों विचारकों के यहाँ शक्ति और वैधता के बीच जटिल संबंध दिखाई देता है।

आर्थिक शक्ति के प्रश्न पर कौटिल्य विशेष रूप से गहन विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। उनके लिए कोष राज्य का जीवन-तत्व है। बिना वित्तीय संसाधनों के सेना, प्रशासन और लोककल्याण संभव नहीं। इसलिए वे कृषि, व्यापार, खनन, वन-संपदा, सिंचाई और कर-प्रणाली को राज्य की शक्ति से जोड़ते हैं। यहाँ राजनीति और अर्थव्यवस्था का गहरा संबंध दिखाई देता है। आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र में भी यही विचार विकसित हुआ कि आर्थिक संसाधनों के बिना राजनीतिक शक्ति टिकाऊ नहीं हो सकती।

मैकियावेली आर्थिक प्रशासन पर उतना विस्तार नहीं देते, परंतु वे युद्ध और शक्ति-संतुलन को राजनीतिक अस्तित्व की शर्त मानते हैं। उनके लिए राज्य को ऐसी स्थिति में होना चाहिए कि वह बाहरी आक्रमण और आंतरिक षड्यंत्र दोनों से स्वयं की रक्षा कर सके। इस कारण उनका चिंतन सैन्य संगठन, राजनीतिक नेतृत्व और रणनीतिक निर्णय पर अधिक केंद्रित है।

यहाँ दोनों विचारकों के बीच एक और महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है। कौटिल्य का चिंतन दीर्घकालिक शासन-व्यवस्था का मॉडल प्रस्तुत करता है। वे प्रशासन को नियमित और संस्थागत बनाते हैं। दूसरी ओर मैकियावेली का चिंतन राजनीतिक संकट और सत्ता-संघर्ष की परिस्थितियों से अधिक प्रभावित है। वे संकट-प्रबंधन, सत्ता-सुरक्षा और नेतृत्व-कौशल पर अधिक ध्यान देते हैं। इसीलिए कुछ विद्वान कौटिल्य को "प्रशासनिक यथार्थवादी" और मैकियावेली को "राजनीतिक यथार्थवादी" मानते हैं, यद्यपि दोनों श्रेणियाँ पूरी तरह अलग नहीं हैं।

समकालीन राजनीति में इन दोनों की प्रासंगिकता अनेक रूपों में दिखाई देती है। आधुनिक राज्य आज केवल सैन्य शक्ति से नहीं चलते। उन्हें आर्थिक विकास, प्रशासनिक दक्षता, तकनीकी क्षमता, सूचना-संग्रह और जनसमर्थन की आवश्यकता होती है। चीन, अमेरिका, रूस और भारत जैसे बड़े राष्ट्र सुरक्षा, अर्थव्यवस्था, प्रौद्योगिकी और कूटनीति को एक साथ जोड़कर अपनी शक्ति का निर्माण करते हैं। यह बहुआयामी शक्ति-दृष्टि कौटिल्य की व्यापक राज्य-समझ के अधिक निकट प्रतीत होती है।

दूसरी ओर आधुनिक चुनावी राजनीति में नेतृत्व की छवि, निर्णायकता, संकट-प्रबंधन और शक्ति-प्रदर्शन का महत्त्व बढ़ा है। जननेता स्वयं को राष्ट्र की स्थिरता और सुरक्षा के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह प्रवृत्ति कई स्तरों पर मैकियावेली की राजनीतिक समझ को समकालीन संदर्भ प्रदान करती है।

फिर भी आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में शक्ति को संवैधानिक सीमाओं के भीतर बाँधना आवश्यक माना जाता है। यही वह बिंदु है जहाँ आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीतिक सिद्धांत मैकियावेली और कौटिल्य दोनों से आगे जाता है। आज शासन की वैधता केवल शक्ति या प्रशासनिक दक्षता से नहीं, बल्कि नागरिक अधिकारों, पारदर्शिता, न्यायपालिका, मीडिया और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व से भी निर्धारित होती है।

इस प्रकार राज्य और प्रशासन के प्रश्न पर दोनों विचारकों का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि राजनीति केवल चुनाव, विचारधारा या नैतिक आदर्शों का विषय नहीं है। राजनीति संस्थागत संगठन, संसाधन-संचालन, प्रशासनिक नियंत्रण और रणनीतिक विवेक की भी प्रक्रिया है। मैकियावेली और कौटिल्य दोनों इस जटिलता को समझते हैं, परंतु उनके समाधान अलग ऐतिहासिक और बौद्धिक परंपराओं से उत्पन्न होते हैं। यही तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का वास्तविक उद्देश्य है कि वह इन भिन्न परंपराओं को संवाद में लाकर राज्य और शक्ति की व्यापक समझ विकसित करे।

2.8 मैकियावेली और कौटिल्य : प्रमुख तुलनात्मक बिंदु

मैकियावेली और कौटिल्य दोनों राज्यकला और राजनीतिक यथार्थवाद के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतकार हैं, किन्तु उनके चिंतन की संरचना, उद्देश्य और राजनीतिक दृष्टि में कई महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देते हैं। दोनों विचारकों ने राजनीति को आदर्शवादी नैतिकता से अलग करके वास्तविक सत्ता-संबंधों के आधार पर समझने का प्रयास किया, फिर भी दोनों की बौद्धिक दिशा पूरी तरह समान नहीं है।

मानव स्वभाव के प्रश्न पर दोनों का दृष्टिकोण यथार्थवादी है। दोनों मानते हैं कि मनुष्य स्वार्थ, भय और लाभ से प्रभावित होता है। इसलिए राज्य को केवल सद्भावना के आधार पर नहीं चलाया जा सकता। किन्तु मैकियावेली इस निष्कर्ष से राजनीति को नैतिकता से काफी हद तक अलग कर देते हैं, जबकि कौटिल्य शक्ति और लोककल्याण के बीच संबंध बनाए रखते हैं।

राज्य के उद्देश्य के संदर्भ में मैकियावेली का मुख्य ध्यान राजनीतिक स्थिरता और सत्ता-सुरक्षा पर है। उनके लिए शक्तिशाली राज्य राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक अस्तित्व की शर्त है। दूसरी ओर कौटिल्य राज्य को व्यापक प्रशासनिक संगठन के रूप में देखते हैं, जिसमें आर्थिक समृद्धि, न्याय, कर-व्यवस्था और सामाजिक नियंत्रण भी शामिल हैं।

राजनीति और नैतिकता के संबंध पर दोनों विचारकों की तुलना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। मैकियावेली यह मानते हैं कि शासक को कभी-कभी नैतिक सीमाओं से बाहर जाकर भी कार्य करना पड़ सकता है। राजनीति में परिणाम और राज्यहित अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। कौटिल्य भी छल, गुप्तचर और रणनीतिक हिंसा को स्वीकार करते हैं, परंतु वे शासन को लोककल्याण और राजधर्म से पूरी तरह अलग नहीं करते।

विदेश नीति के प्रश्न पर दोनों यथार्थवादी हैं। मैकियावेली सैन्य शक्ति, राजनीतिक नेतृत्व और रणनीतिक गठबंधन पर बल देते हैं। कौटिल्य मंडल सिद्धांत, षाड्गुण्य नीति और शक्ति-संतुलन के माध्यम से अंतरराज्यीय संबंधों की जटिल समझ प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति में दोनों की प्रासंगिकता स्पष्ट दिखाई देती है।

प्रशासनिक दृष्टि से कौटिल्य का चिंतन अधिक विकसित और संस्थागत है। वे प्रशासनिक निरीक्षण, आर्थिक नियंत्रण, अधिकारियों की नियुक्ति और कर-संग्रह की विस्तृत व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। मैकियावेली का चिंतन अपेक्षाकृत अधिक राजनीतिक और नेतृत्व-केंद्रित है।

दोनों विचारक राज्य की सुरक्षा के लिए शक्तिशाली नेतृत्व को आवश्यक मानते हैं, परंतु दोनों जनता की भूमिका को भी पूरी तरह नकारते नहीं। मैकियावेली जनता की घृणा से बचने की सलाह देते हैं। कौटिल्य स्पष्ट रूप से कहते हैं कि प्रजा की संतुष्टि राज्य की स्थिरता का आधार है। इस प्रकार दोनों के यहाँ शक्ति और वैधता का संबंध उपस्थित है।

2.9 समकालीन प्रासंगिकता

मैकियावेली और कौटिल्य का चिंतन आज भी केवल ऐतिहासिक महत्त्व का विषय नहीं है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य, अंतरराष्ट्रीय राजनीति, राष्ट्रीय सुरक्षा और रणनीतिक अध्ययन में उनके विचार अनेक रूपों में दिखाई देते हैं।

समकालीन विश्व में शक्ति-संतुलन की राजनीति अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अमेरिका, चीन, रूस, भारत और यूरोपीय शक्तियों के बीच रणनीतिक प्रतिस्पर्धा यह दिखाती है कि अंतरराष्ट्रीय संबंध आज भी राष्ट्रीय हित और सुरक्षा से संचालित होते हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिक यथार्थवादी सिद्धांत के निकट है, जिसकी बौद्धिक जड़ें मैकियावेली और कौटिल्य जैसे विचारकों तक जाती हैं।

भारत की विदेश नीति में कौटिल्य का उल्लेख विशेष रूप से बढ़ा है। पड़ोसी देशों के साथ संबंध, समुद्री सुरक्षा, इंडो-पैसिफिक रणनीति, बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था और रणनीतिक साझेदारियों की चर्चा में मंडल सिद्धांत को कई बार संदर्भित किया जाता है। हालांकि यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था प्राचीन साम्राज्यवादी व्यवस्था से भिन्न है, इसलिए कौटिल्य का प्रयोग यांत्रिक रूप से नहीं किया जा सकता।

मैकियावेली की प्रासंगिकता आधुनिक चुनावी राजनीति और राजनीतिक नेतृत्व में दिखाई देती है। समकालीन नेता केवल नीतियों से नहीं, बल्कि राजनीतिक छवि, जनसंचार, प्रतीकों और भावनात्मक राष्ट्रवाद के माध्यम से भी सत्ता प्राप्त करते और बनाए रखते हैं। मीडिया-प्रबंधन, राजनीतिक प्रचार और शक्ति-प्रदर्शन की राजनीति कई स्तरों पर मैकियावेली की समझ को समकालीन रूप प्रदान करती है।

राष्ट्रीय सुरक्षा और निगरानी राज्य के संदर्भ में भी दोनों विचारकों की प्रासंगिकता स्पष्ट है। आधुनिक राज्यों ने खुफिया एजेंसियों, साइबर निगरानी, डाटा-संग्रह और रणनीतिक सूचना-तंत्र को अत्यधिक विकसित किया है। आतंकवाद, सीमा-संघर्ष और डिजिटल युद्ध की परिस्थितियों में सूचना स्वयं शक्ति का स्रोत बन चुकी है। कौटिल्य का गुप्तचर-तंत्र और मैकियावेली की राजनीतिक सतर्कता इस संदर्भ में नए अर्थ प्राप्त करती है।

फिर भी आधुनिक लोकतंत्रों में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना रहता है: राज्यहित और नागरिक स्वतंत्रता के बीच संतुलन कैसे स्थापित किया जाए? यदि सुरक्षा के नाम पर राज्य को असीमित शक्ति दे दी जाए, तो लोकतंत्र और मानवाधिकार संकट में पड़ सकते हैं। इसलिए आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत मैकियावेली और कौटिल्य के यथार्थवाद को उपयोगी मानते हुए भी उसे संवैधानिक सीमाओं और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व से बाँधने की आवश्यकता पर बल देता है।

2.10 आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

मैकियावेली और कौटिल्य दोनों के चिंतन की व्यापक प्रशंसा हुई है, किन्तु उनकी आलोचनाएँ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं।मैकियावेली की सबसे बड़ी आलोचना यह है कि उन्होंने राजनीति को नैतिकता से अलग कर दिया। कई विद्वानों ने उन पर अनैतिक राजनीति को वैध बनाने का आरोप लगाया। लियो स्ट्रॉस ने उन्हें "बुराई का शिक्षक" कहा क्योंकि वे शासक को छल, भय और हिंसा के प्रयोग की अनुमति देते हैं। आलोचकों के अनुसार यदि राज्यहित को सर्वोच्च मान लिया जाए, तो यह अधिनायकवाद और दमनकारी राजनीति को वैध ठहरा सकता है।

कुछ आलोचक यह भी कहते हैं कि मैकियावेली जनता की सक्रिय लोकतांत्रिक भागीदारी की अपेक्षा मजबूत नेतृत्व को अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि 'डिस्कोर्सेज ऑन लिवी' (*Discourses on Livy*) में वे गणतंत्रीय राजनीति का समर्थन करते हैं, फिर भी उनकी लोकप्रिय छवि सत्ता-सुरक्षा और कठोर राजनीतिक नेतृत्व के सिद्धांतकार की बनी रही है।

कौटिल्य की आलोचना मुख्यतः उनके अत्यधिक राज्य-केंद्रित दृष्टिकोण को लेकर की जाती है। गुप्तचर-तंत्र, कठोर दण्डनीति और राजनीतिक छल का समर्थन आधुनिक लोकतांत्रिक संवेदनशीलता के लिए समस्याग्रस्त प्रतीत हो सकता है। कुछ विद्वान मानते हैं कि उनका चिंतन व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अपेक्षा राज्य की शक्ति को अधिक महत्त्व देता है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि कौटिल्य की राजनीति अत्यधिक पदानुक्रमित समाज की पृष्ठभूमि में विकसित हुई थी। उनके चिंतन में आधुनिक लोकतांत्रिक समानता और नागरिक अधिकारों की अवधारणाएँ उपस्थित नहीं हैं। इसलिए उन्हें सीधे आधुनिक लोकतंत्र का सिद्धांतकार नहीं माना जा सकता।

फिर भी दोनों विचारकों को केवल "अनैतिक" कहकर खारिज करना उचित नहीं होगा। उन्होंने राजनीति की उन वास्तविकताओं को समझने का प्रयास किया जिन्हें आदर्शवादी राजनीतिक सिद्धांत अक्सर अनदेखा कर देता है। राज्य की सुरक्षा, प्रशासनिक स्थिरता, रणनीतिक विवेक और शक्ति-संतुलन जैसे प्रश्न आज भी राजनीति के केंद्र में मौजूद हैं। उनकी वास्तविक सीमा यह नहीं कि वे शक्ति की बात करते हैं, बल्कि यह कि वे लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व और मानवाधिकारों की आधुनिक अवधारणाओं से पूर्व के विचारक हैं।

2.11 तुलनात्मक सारणी

आधार	**मैकियावेली**	**कौटिल्य**
ऐतिहासिक संदर्भ	पुनर्जागरणकालीन इटली	मौर्य-पूर्व एवं मौर्यकालीन भारत
मुख्य चिंता	राजनीतिक स्थिरता और सत्ता-सुरक्षा	साम्राज्य-निर्माण और प्रशासनिक संगठन
प्रमुख ग्रंथ	'द प्रिंस' (*The Prince*)	'अर्थशास्त्र' (*Arthashastra*)
राजनीति की प्रकृति	शक्ति और नेतृत्व-केंद्रित	प्रशासन एवं राज्य-संगठन आधारित
नैतिकता का स्थान	राजनीति से आंशिक पृथक्करण	सीमित नैतिक संबंध एवं लोककल्याण
मानव स्वभाव	स्वार्थी और अस्थिर	लाभ एवं भय से संचालित
विदेश नीति	सैन्य शक्ति और रणनीति	मंडल सिद्धांत एवं षाड्गुण्य नीति
प्रशासन	अपेक्षाकृत सीमित चर्चा	विस्तृत प्रशासनिक संरचना
गुप्तचर व्यवस्था	राजनीतिक सतर्कता पर बल	संगठित गुप्तचर तंत्र
आर्थिक दृष्टि	गौण	अत्यंत महत्त्वपूर्ण
जनता की भूमिका	घृणा से बचना आवश्यक	प्रजा-संतोष राज्य की स्थिरता का आधार
राजनीतिक परंपरा	आधुनिक राजनीतिक यथार्थवाद	भारतीय राज्यकला और यथार्थवाद

2.12 अभ्यास प्रश्न

1. मैकियावेली के राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
2. कौटिल्य के राज्य और प्रशासन संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।
3. मैकियावेली और कौटिल्य के राजनीतिक यथार्थवाद का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. राजनीति और नैतिकता के संबंध पर मैकियावेली और कौटिल्य के विचारों की तुलना कीजिए।
5. कौटिल्य के मंडल सिद्धांत की समकालीन प्रासंगिकता का परीक्षण कीजिए।
6. क्या मैकियावेली अनैतिक राजनीति के समर्थक थे? आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

7. राज्यकला की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मैकियावेली और कौटिल्य के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
8. कौटिल्य की प्रशासनिक दृष्टि आधुनिक शासन-व्यवस्था को किस प्रकार समझने में सहायक है?
9. आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में मैकियावेली और कौटिल्य की प्रासंगिकता की विवेचना कीजिए।
10. शक्ति, वैधता और राज्यहित के संदर्भ में मैकियावेली और कौटिल्य का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

2.13 संदर्भ-सूची

- अरस्तू. (1998). *पॉलिटिक्स* (*Politics*). इंडियानापोलिस: हैकेट पब्लिशिंग।
- बर्न्स, टोनी. (2003). "अरस्तू" (*Aristotle*). डेविड बाउचर एवं पॉल केली (संपा.), *पॉलिटिकल थिंकर्स: फ्रॉम सोक्रेटीस टू द प्रेज़ेंट* (*Political Thinkers: From Socrates to the Present*) में। न्यूयॉर्क: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- कांगले, आर. पी. (1965). द *कौटिल्य अर्थशास्त्र* (*The Kautilya Arthashastra*). मुंबई: यूनिवर्सिटी ऑफ बॉम्बे।
- कौटिल्य. (2000). *अर्थशास्त्र* (*Arthashastra*) (एल. एन. रंगराजन, अनुवादक). नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स।
- मैकियावेली, निकोलो. (1532/2003). द *प्रिंस* (*The Prince*). न्यूयॉर्क: पेंगुइन क्लासिक्स।
- मैकियावेली, निकोलो. (1521/2001). *ऑन द आर्ट ऑफ वॉर* (*On the Art of War*). शिकागो: यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।
- मेहता, वी. आर. (1992). *फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट* (*Foundations of Indian Political Thought*). नई दिल्ली: मनोहर पब्लिशर्स।
- सैबाइन, जॉर्ज एच. (1973). *अ हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी* (*A History of Political Theory*). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड एंड आईबीएच।
- स्किनर, क्वेंटिन. (1978). द *फाउंडेशन्स ऑफ मॉडर्न पॉलिटिकल थॉट* (*The Foundations of Modern Political Thought*). कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- स्पेलमैन, जॉन डब्ल्यू. (1964). *पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ एंशिएंट इंडिया* (*Political Theory of Ancient India*). ऑक्सफोर्ड: क्लैरेंडन प्रेस।
- स्ट्रॉस, लियो. (1958). *थॉट्स ऑन मैकियावेली* (*Thoughts on Machiavelli*). शिकागो: यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

असमानता : रूसो एवं बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय

संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 रूसो : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं राजनीतिक चिंतन

3.3 रूसो का असमानता संबंधी सिद्धांत

3.4 बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय : जीवन, ऐतिहासिक संदर्भ एवं राजनीतिक विचार

3.5 बंकिमचंद्र की समानता की अवधारणा

3.6 रूसो और बंकिमचंद्र : असमानता का तुलनात्मक अध्ययन

3.7 असमानता, आधुनिकता और समाज

3.8 समकालीन प्रासंगिकता

3.9 आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

3.10 तुलनात्मक सारणी

3.11 अभ्यास प्रश्न

3.12 संदर्भ-सूची

3.1 प्रस्तावना

असमानता राजनीतिक सिद्धांत की सबसे केंद्रीय और स्थायी समस्याओं में से एक रही है। मानव समाज में शक्ति, संपत्ति, प्रतिष्ठा, अवसर, ज्ञान और सामाजिक स्थिति का वितरण कभी समान नहीं रहा। इतिहास के लगभग प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में असमानता मौजूद रही है। कभी यह जन्म और वंश पर आधारित रही, कभी जाति और नस्ल पर, कभी संपत्ति और वर्ग पर, तो कभी लिंग, धर्म और सांस्कृतिक पहचान पर। इसी कारण राजनीतिक चिंतन में बार-बार यह प्रश्न उठाया गया कि क्या असमानता प्राकृतिक है या सामाजिक रूप से निर्मित? क्या सभी प्रकार की असमानताएँ अन्यायपूर्ण हैं? क्या समानता और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं या उनके बीच तनाव मौजूद है?

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में असमानता का प्रश्न विशेष रूप से यूरोप में पूँजीवाद, निजी संपत्ति और आधुनिक राज्य के विकास के साथ उभरा। ज्ञानोदय काल के विचारकों ने स्वतंत्रता और समानता के आदर्श प्रस्तुत किए, किन्तु वास्तविक समाजों में आर्थिक और सामाजिक विषमताएँ बढ़ती रहीं। इसी संदर्भ में जाँ-जाक रूसो का चिंतन अत्यंत महत्त्वपूर्ण बनता है। रूसो उन पहले आधुनिक विचारकों में थे जिन्होंने यह तर्क दिया कि सभ्यता, निजी संपत्ति और सामाजिक संस्थाओं ने मनुष्य को स्वतंत्रता और नैतिक सरलता से दूर कर दिया है। उन्होंने असमानता को केवल आर्थिक समस्या के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे नैतिक और राजनीतिक पतन से भी जोड़ा।

रूसो की प्रसिद्ध कृति **'डिस्कोर्स ऑन द ओरिजिन एंड फाउंडेशन्स ऑफ इनइक्वालिटी अमंग मेन' (*Discourse on the Origin and Foundations of Inequality Among Men*)** आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में असमानता पर सबसे प्रभावशाली ग्रंथों में गिनी जाती है। रूसो इस ग्रंथ में प्राकृतिक अवस्था, मानव स्वभाव, निजी संपत्ति और सभ्यता की आलोचना के माध्यम से यह समझाने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य किस प्रकार सामाजिक असमानताओं के जाल में फँस गया। उनका प्रसिद्ध कथन है कि वह पहला व्यक्ति जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेरकर कहा "यह मेरा है" और दूसरों को उस पर विश्वास दिला दिया, वही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था। इस कथन के माध्यम से रूसो निजी संपत्ति को सामाजिक असमानता और राजनीतिक प्रभुत्व का स्रोत मानते हैं।

किन्तु असमानता का प्रश्न केवल यूरोपीय आधुनिकता तक सीमित नहीं था। औपनिवेशिक भारत में भी समाज गहरी सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विषमताओं से विभाजित था। जाति-व्यवस्था, औपनिवेशिक शोषण, सामाजिक रूढ़ियाँ और सांस्कृतिक संकट ने भारतीय चिंतकों को समानता, समाज-सुधार और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के प्रश्नों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया। उन्नीसवीं शताब्दी का बंगाल पुनर्जागरण इसी बौद्धिक जागरण का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रमुख विचारक थे।

बंकिमचंद्र को प्रायः राष्ट्रवादी साहित्यकार के रूप में याद किया जाता है, किन्तु उनका राजनीतिक और सामाजिक चिंतन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनकी रचना 'साम्य' (*Samya*) सामाजिक समानता, नैतिक पुनर्निर्माण और समाज-संगठन पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत करती है। बंकिमचंद्र पश्चिमी समानता की अवधारणाओं से परिचित थे, किन्तु उन्होंने भारतीय समाज और नैतिक परंपराओं के संदर्भ में समानता के प्रश्न को पुनर्विचारित किया। उनके लिए समानता केवल आर्थिक या राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न नहीं थी। वे समाज में नैतिक संतुलन, सामाजिक सहयोग और राष्ट्रीय एकता को भी उतना ही महत्त्व देते थे।

यहाँ रूसो और बंकिमचंद्र के बीच एक रोचक तुलनात्मक संवाद दिखाई देता है। दोनों आधुनिक सभ्यता की आलोचना करते हैं। दोनों मानते हैं कि समाज की वर्तमान संरचना मनुष्य को नैतिक रूप से विकृत कर सकती है। दोनों सामाजिक जीवन में कृत्रिम विभाजनों और प्रभुत्व की समस्या को पहचानते हैं। फिर भी दोनों के समाधान अलग हैं। रूसो प्राकृतिक स्वतंत्रता और सामाजिक संविदा की दिशा में सोचते हैं, जबकि बंकिमचंद्र नैतिक पुनर्निर्माण, सामाजिक समन्वय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण पर बल देते हैं।

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन में यह इकाई विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह दिखाती है कि असमानता का प्रश्न केवल आर्थिक नहीं होता। यह नैतिकता, समाज, संस्कृति, राजनीति और आधुनिकता से गहराई से जुड़ा हुआ है। पश्चिमी राजनीतिक चिंतन में असमानता का प्रश्न निजी संपत्ति, वर्ग और राजनीतिक अधिकारों के संदर्भ में विकसित हुआ, जबकि भारतीय संदर्भ में यह जाति, सामाजिक पदानुक्रम, औपनिवेशिक प्रभुत्व और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण से जुड़ गया।

समकालीन विश्व में भी असमानता राजनीतिक जीवन की केंद्रीय समस्या बनी हुई है। वैश्विक पूँजीवाद ने अभूतपूर्व आर्थिक विकास उत्पन्न किया है, किन्तु इसके साथ ही आय और संपत्ति की विषमताएँ भी बढ़ी हैं। डिजिटल प्रौद्योगिकी, शिक्षा, स्वास्थ्य और अवसरों तक पहुँच में भारी अंतर मौजूद है। भारत जैसे समाजों में जाति, वर्ग, लिंग और क्षेत्रीय असमानताएँ अभी भी सामाजिक न्याय की राह में बाधा बनी हुई हैं। इस कारण रूसो और बंकिमचंद्र का अध्ययन केवल ऐतिहासिक महत्त्व का विषय नहीं है, बल्कि समकालीन राजनीति और समाज को समझने का भी माध्यम है।

इस इकाई का उद्देश्य केवल दो विचारकों के विचारों का वर्णन करना नहीं है। इसका उद्देश्य यह समझना है कि असमानता किस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक संबंधों और मानव स्वतंत्रता को प्रभावित करती है। रूसो और बंकिमचंद्र दोनों हमें यह सोचने के लिए प्रेरित करते हैं कि क्या आधुनिक समाज वास्तव में मनुष्य को अधिक स्वतंत्र और समान बना पाया है, अथवा उसने नए प्रकार की निर्भरता, प्रतिस्पर्धा और प्रभुत्व को जन्म दिया है। यही प्रश्न इस इकाई के अध्ययन को बौद्धिक रूप से अत्यंत महत्त्वपूर्ण बनाते हैं।

3.2 रूसो : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं राजनीतिक चिंतन

जाँ-जाक रूसो का जन्म 1712 में जेनेवा में हुआ, जो उस समय एक स्वतंत्र गणराज्य था। रूसो का जीवन यूरोप के ज्ञानोदय (Enlightenment) काल से जुड़ा हुआ था, किन्तु वे ज्ञानोदय के सबसे जटिल और आलोचनात्मक विचारकों में गिने जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी का यूरोप विज्ञान, तर्क, व्यापार और आधुनिक राज्य के विकास का युग था। वोल्तेयर, डिडरो और मोंतेस्क्यू जैसे विचारक तर्कवाद, प्रगति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन कर रहे थे। परंतु रूसो ने आधुनिक सभ्यता की इस प्रगति के भीतर छिपी हुई नैतिक और सामाजिक समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया।

रूसो का जीवन स्वयं अस्थिरता, संघर्ष और सामाजिक असुरक्षा से भरा हुआ था। बचपन में ही उनकी माता का निधन हो गया। उनका औपचारिक शिक्षण व्यवस्थित नहीं था और उन्होंने जीवन का बड़ा भाग आर्थिक कठिनाइयों और सामाजिक अस्थिरता में बिताया। यही कारण है कि रूसो का चिंतन केवल दार्शनिक तर्क का परिणाम नहीं था, बल्कि उसमें गहरी भावनात्मक और नैतिक बेचैनी भी दिखाई देती है। वे सभ्यता, कृत्रिम सामाजिक प्रतिष्ठा और अभिजात संस्कृति के प्रति गहरा अविश्वास रखते थे।

रूसो का बौद्धिक उदय उस समय हुआ जब फ्रांसीसी समाज गहरी असमानताओं से विभाजित था। फ्रांस में राजशाही, सामंती विशेषाधिकार और चर्च की शक्ति अत्यंत मजबूत थी। समाज मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित था: पादरी वर्ग, अभिजात वर्ग और सामान्य जनता। करों का बोझ मुख्यतः किसानों और सामान्य नागरिकों पर था, जबकि विशेषाधिकार संपन्न वर्ग अनेक करों से मुक्त थे। आर्थिक विषमता और राजनीतिक दमन ने व्यापक असंतोष उत्पन्न कर दिया था। इसी सामाजिक संदर्भ में रूसो ने असमानता, स्वतंत्रता और नागरिक समाज की आलोचना विकसित की।

रूसो की प्रारंभिक प्रसिद्धि **'डिस्कोर्स ऑन द साइंसेज़ एंड आर्ट्स' (*Discourse on the Sciences and Arts*)** से हुई। इस ग्रंथ में उन्होंने यह तर्क दिया कि कला, विज्ञान और सभ्यता की प्रगति ने मनुष्य को नैतिक रूप से बेहतर नहीं बनाया, बल्कि उसे अधिक कृत्रिम, प्रतिस्पर्धी और भ्रष्ट बना दिया है। यह विचार ज्ञानोदय काल के सामान्य आशावाद से भिन्न था। जहाँ अन्य विचारक प्रगति को मानव मुक्ति का साधन मान रहे थे, रूसो यह पूछ रहे थे कि क्या सभ्यता ने वास्तव में मनुष्य को अधिक स्वतंत्र बनाया है।

रूसो के राजनीतिक चिंतन की केंद्रीय अवधारणाओं में प्राकृतिक अवस्था, प्राकृतिक मनुष्य, असमानता, स्वतंत्रता और सामान्य इच्छा (General Will) शामिल हैं। वे मानते हैं कि प्रारंभिक प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अपेक्षाकृत स्वतंत्र, सरल और करुणाशील था। उस अवस्था में मनुष्य में प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और सामाजिक अहंकार का विकास नहीं हुआ था। रूसो के अनुसार मनुष्य स्वभाव से पूर्णतः दुष्ट नहीं है। समाज की कृत्रिम संरचनाएँ उसे भ्रष्ट बनाती हैं।

यहाँ रूसो हॉब्स से भिन्न हो जाते हैं। हॉब्स प्राकृतिक अवस्था को "सभी का सभी के विरुद्ध युद्ध" मानते थे, जबकि रूसो के लिए प्राकृतिक अवस्था अपेक्षाकृत शांत और स्वतंत्र स्थिति थी। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति आत्म-

संरक्षण और करुणा थी। सामाजिक असमानता और निजी संपत्ति के विकास ने प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और प्रभुत्व को जन्म दिया।

रूसो का चिंतन आधुनिकता की गहरी आलोचना प्रस्तुत करता है। वे कहते हैं कि सभ्यता ने मनुष्य को बाहरी रूप से परिष्कृत अवश्य बनाया, किन्तु भीतर से उसे असुरक्षित और कृत्रिम बना दिया। सामाजिक प्रतिष्ठा, संपत्ति और सम्मान की प्रतिस्पर्धा ने मनुष्य को दूसरों की दृष्टि पर निर्भर बना दिया। यह निर्भरता स्वतंत्रता को नष्ट करती है। रूसो के यहाँ "दूसरों की निगाह में जीना" आधुनिक समाज की सबसे बड़ी समस्या बन जाता है।

'डिस्कोर्स ऑन इनइक्वालिटी' (*Discourse on Inequality*) में रूसो यह दिखाते हैं कि असमानता प्राकृतिक नहीं, बल्कि ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है। मनुष्य ने जैसे-जैसे भूमि पर अधिकार स्थापित किया, निजी संपत्ति विकसित हुई। संपत्ति के साथ वर्ग-विभाजन, श्रम-विभाजन और राजनीतिक प्रभुत्व भी विकसित हुआ। अंततः राज्य और विधि का निर्माण भी शक्तिशाली वर्गों के हितों की रक्षा के लिए किया गया। इस प्रकार रूसो आधुनिक समाज को नैतिक रूप से संदिग्ध व्यवस्था के रूप में देखते हैं।

फिर भी रूसो पूर्णतः अराजकतावादी नहीं थे। वे समाज और राजनीति को समाप्त करने की बात नहीं करते। उनका उद्देश्य ऐसा राजनीतिक समुदाय निर्मित करना था जहाँ मनुष्य अपनी स्वतंत्रता खोए बिना सामूहिक जीवन जी सके। यही विचार आगे चलकर **'द सोशल कॉन्ट्रैक्ट'** (*The Social Contract*) में विकसित होता है, जहाँ वे सामान्य इच्छा (General Will) की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।

रूसो के चिंतन का प्रभाव अत्यंत व्यापक रहा। फ्रांसीसी क्रांति के आदर्श "स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व" पर उनका गहरा प्रभाव था। आधुनिक लोकतंत्र, लोकप्रिय संप्रभुता और नागरिक समानता की अवधारणाओं के विकास में रूसो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। साथ ही, मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी और समुदायवादी चिंतन ने भी रूसो से प्रेरणा ग्रहण की।

किन्तु रूसो के चिंतन की आलोचनाएँ भी हुई हैं। कुछ विद्वानों ने कहा कि उनकी प्राकृतिक अवस्था ऐतिहासिक तथ्य नहीं, बल्कि दार्शनिक कल्पना है। कुछ ने यह भी तर्क दिया कि "सामान्य इच्छा" की अवधारणा सामूहिकता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित कर सकती है। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में असमानता, स्वतंत्रता और सभ्यता की आलोचना के प्रश्न को जिस तीव्रता से रूसो ने उठाया, वह अत्यंत मौलिक था।

रूसो की विशेषता यह है कि वे आधुनिक समाज के भीतर छिपे हुए नैतिक संकट को पहचानते हैं। वे केवल राजनीतिक संस्थाओं की आलोचना नहीं करते, बल्कि मनुष्य की आत्मा पर आधुनिक प्रतिस्पर्धी समाज के प्रभाव को समझने का प्रयास करते हैं। यही कारण है कि उनका चिंतन आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। उपभोक्तावाद, सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतिस्पर्धा, डिजिटल प्रदर्शन और आर्थिक असमानता के वर्तमान युग में रूसो के प्रश्न पहले से अधिक तीखे प्रतीत होते हैं।

रूसो के यहाँ असमानता केवल आर्थिक नहीं, बल्कि नैतिक और मनोवैज्ञानिक भी है। मनुष्य केवल संपत्ति के कारण असमान नहीं बनता, बल्कि वह दूसरों की स्वीकृति और सामाजिक तुलना के माध्यम से भी असमानता का अनुभव करता है। आधुनिक पूँजीवादी समाज में यह प्रक्रिया और अधिक तीव्र दिखाई देती है। इस दृष्टि से रूसो आधुनिक समाज के सबसे गहरे आलोचकों में से एक माने जाते हैं।

3.3 रूसो का असमानता संबंधी सिद्धांत

रूसो का असमानता संबंधी सिद्धांत आधुनिक राजनीतिक चिंतन में एक निर्णायक मोड़ का प्रतिनिधित्व करता है। उनसे पहले भी समाज में असमानताओं की चर्चा होती रही थी, किन्तु रूसो ने पहली बार यह प्रश्न गहराई से उठाया कि असमानता का वास्तविक स्रोत क्या है और सभ्यता के विकास ने मनुष्य को किस प्रकार नैतिक तथा राजनीतिक रूप से परिवर्तित किया है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'डिस्कोर्स ऑन द ओरिजिन एंड फाउंडेशन्स ऑफ इनइक्वालिटी अमंग मेन' (*Discourse on the Origin and Foundations of Inequality Among Men*) केवल सामाजिक विषमता का वर्णन नहीं करती, बल्कि आधुनिक समाज की संपूर्ण संरचना की आलोचना प्रस्तुत करती है।

रूसो अपने विश्लेषण की शुरुआत इस प्रश्न से करते हैं कि मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में कैसा था। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रूसो की "प्राकृतिक अवस्था" कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं है। यह एक दार्शनिक उपकरण है, जिसके माध्यम से वे यह समझना चाहते हैं कि सामाजिक संस्थाओं के बनने से पहले मानव जीवन की मूल प्रकृति क्या रही होगी। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य स्वतंत्र, सरल और अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण था। उसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं और वह दूसरों के साथ निरंतर प्रतिस्पर्धा में नहीं जीता था।

रूसो मानव स्वभाव के दो मूल तत्त्वों का उल्लेख करते हैं। पहला है आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति और दूसरा है करुणा। करुणा मनुष्य को दूसरों के अनावश्यक कष्ट से रोकती है। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य पूर्णतः हिंसक या स्वार्थी नहीं था। यहाँ रूसो सीधे हॉब्स की आलोचना करते हैं। हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था को भय, युद्ध और असुरक्षा की स्थिति माना था, जबकि रूसो के लिए यह अपेक्षाकृत स्वतंत्र और नैतिक रूप से कम भ्रष्ट अवस्था थी।

रूसो के अनुसार असमानता दो प्रकार की होती है। पहली प्राकृतिक या भौतिक असमानता, जो आयु, शक्ति, बुद्धि या शारीरिक क्षमता के अंतर पर आधारित होती है। दूसरी नैतिक या राजनीतिक असमानता, जो समाज द्वारा निर्मित होती है। यह दूसरी असमानता ही रूसो के चिंतन का केंद्रीय विषय है। वे यह समझाने का प्रयास करते हैं कि सामाजिक संस्थाओं ने मनुष्य के बीच प्रभुत्व, निर्भरता और कृत्रिम विभाजन कैसे उत्पन्न किए।

रूसो के विश्लेषण में निजी संपत्ति का विकास निर्णायक क्षण है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि जिसने सबसे पहले भूमि को घेरकर कहा "यह मेरी है" और दूसरों को इस पर विश्वास दिला दिया, वही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था। इस कथन का अर्थ अत्यंत गहरा है। रूसो यह दिखाना चाहते हैं कि संपत्ति केवल आर्थिक अधिकार नहीं है, बल्कि शक्ति और असमानता का स्रोत भी है। जैसे-जैसे निजी संपत्ति का विस्तार हुआ, वैसे-वैसे समाज में श्रम-विभाजन, वर्गीय विभाजन और निर्भरता बढ़ती गई।

संपत्ति के साथ सामाजिक तुलना और प्रतिस्पर्धा भी विकसित हुई। रूसो के यहाँ "अमूर प्रोपरे" (Amour-propre) की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह वह सामाजिक अहंकार है जिसमें व्यक्ति स्वयं को दूसरों की दृष्टि से देखने लगता है। मनुष्य अब केवल जीने के लिए नहीं जीता, बल्कि दूसरों से श्रेष्ठ दिखने के लिए जीने लगता है। सम्मान, प्रतिष्ठा और सामाजिक मान्यता की यह लालसा आधुनिक समाज को गहराई से प्रभावित करती है।

रूसो के अनुसार सभ्यता का विकास मनुष्य को अधिक नैतिक नहीं बनाता। इसके विपरीत, यह कृत्रिम इच्छाओं, ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है। आधुनिक समाज में मनुष्य बाहरी रूप से सभ्य दिखाई देता है, किन्तु भीतर

से वह असुरक्षित और निर्भर हो जाता है। वह दूसरों की स्वीकृति पर निर्भर रहने लगता है। यही नैतिक पतन असमानता को और गहरा करता है।

रूसो सामाजिक संस्थाओं की वैधता पर भी प्रश्न उठाते हैं। वे कहते हैं कि राज्य और विधि का निर्माण निष्पक्ष न्याय के लिए नहीं, बल्कि संपत्ति और विशेषाधिकार की रक्षा के लिए हुआ। शक्तिशाली वर्गों ने अपने हितों की सुरक्षा के लिए विधिक और राजनीतिक संस्थाओं को विकसित किया। इस प्रकार कानून ने असमानता को समाप्त नहीं किया, बल्कि उसे स्थायी रूप प्रदान किया। यह विचार आगे चलकर मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

फिर भी रूसो केवल विनाशकारी आलोचना प्रस्तुत नहीं करते। वे यह भी सोचते हैं कि मनुष्य ऐसी राजनीतिक व्यवस्था कैसे बना सकता है जहाँ स्वतंत्रता और समानता दोनों सुरक्षित रहें। यही प्रश्न आगे चलकर सामाजिक संविदा की अवधारणा में विकसित होता है। रूसो का प्रसिद्ध कथन है– **"मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है, परंतु हर जगह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।"** यह वाक्य आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के बीच तनाव को व्यक्त करता है।

रूसो के लिए वास्तविक राजनीतिक समुदाय वह होगा जहाँ नागरिक सामूहिक रूप से विधि-निर्माण में भाग लें और सामान्य इच्छा (General Will) के आधार पर शासन स्थापित करें। सामान्य इच्छा किसी एक व्यक्ति या वर्ग का हित नहीं है। यह सार्वजनिक हित की सामूहिक अभिव्यक्ति है। रूसो मानते हैं कि यदि राजनीतिक व्यवस्था वास्तव में सामान्य इच्छा पर आधारित हो, तो नागरिक कानून का पालन करते हुए भी स्वतंत्र रह सकते हैं क्योंकि वे उन्हीं नियमों का पालन करेंगे जिन्हें उन्होंने सामूहिक रूप से स्वीकार किया है।

रूसो की समानता की अवधारणा केवल आर्थिक समानता तक सीमित नहीं है। वे अत्यधिक आर्थिक विषमता को राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए खतरा मानते हैं। यदि कुछ लोग अत्यधिक धनी और कुछ अत्यधिक निर्धन हो जाएँ, तो नागरिक समानता असंभव हो जाएगी। इसलिए वे ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करते हैं जहाँ आर्थिक अंतर सीमित हों और कोई व्यक्ति इतना शक्तिशाली न बन सके कि दूसरों को खरीद सके।

रूसो का प्रभाव फ्रांसीसी क्रांति पर अत्यंत गहरा था। "समानता" और "लोकप्रिय संप्रभुता" की आधुनिक अवधारणाओं को व्यापक वैचारिक शक्ति रूसो से मिली। बाद के समाजवादी और समुदायवादी चिंतन ने भी उनकी आलोचनात्मक दृष्टि से प्रेरणा ग्रहण की। मार्क्स ने निजी संपत्ति और वर्ग-विभाजन की जिस आलोचना को विकसित किया, उसके प्रारंभिक संकेत रूसो के चिंतन में दिखाई देते हैं।

किन्तु रूसो की आलोचनाएँ भी हुई हैं। कुछ विद्वानों ने कहा कि उनकी प्राकृतिक अवस्था ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित नहीं की जा सकती। स्त्रीवादी विचारकों ने यह भी तर्क दिया कि रूसो की नागरिकता की अवधारणा मुख्यतः पुरुष नागरिक पर आधारित थी और उन्होंने महिलाओं को घरेलू क्षेत्र तक सीमित करने की प्रवृत्ति दिखाई। इसके अतिरिक्त कुछ आलोचकों का मानना है कि "सामान्य इच्छा" की अवधारणा सामूहिकता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित कर सकती है।

फिर भी रूसो का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने आधुनिक सभ्यता की नैतिक कीमत को पहचान लिया। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि क्या आर्थिक प्रगति और सामाजिक प्रतिष्ठा की दौड़ वास्तव में मनुष्य को अधिक स्वतंत्र और सुखी बनाती है। आज के उपभोक्तावादी और डिजिटल समाज में, जहाँ सामाजिक तुलना और प्रदर्शन जीवन का केंद्रीय हिस्सा बन चुके हैं, रूसो का विश्लेषण अत्यंत समकालीन प्रतीत होता है।

समकालीन पूँजीवादी समाज में आर्थिक असमानता के साथ-साथ सम्मान, पहचान और अवसर की असमानता भी बढ़ी है। सोशल मीडिया के युग में मनुष्य लगातार दूसरों की स्वीकृति और तुलना के दबाव में जी रहा है। इस दृष्टि से रूसो का "**अमूर प्रोपरे**" आधुनिक मनोवैज्ञानिक और सामाजिक संकट को समझने का भी महत्त्वपूर्ण उपकरण बन जाता है। इसी कारण रूसो केवल अठारहवीं शताब्दी के विचारक नहीं हैं, बल्कि आधुनिक समाज की आत्मालोचनात्मक समझ के प्रमुख सिद्धांतकार भी हैं।

3.4 बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय : जीवन, ऐतिहासिक संदर्भ एवं राजनीतिक विचार

बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय उन्नीसवीं शताब्दी के भारत के उन प्रमुख चिंतकों में से हैं जिन्होंने साहित्य, समाज, धर्म और राष्ट्र के प्रश्नों को एक-दूसरे से जोड़कर देखा। उन्हें सामान्यतः उपन्यासकार और राष्ट्रवादी सांस्कृतिक व्यक्तित्व के रूप में स्मरण किया जाता है, किन्तु उनका राजनीतिक और सामाजिक चिंतन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। विशेष रूप से समानता, नैतिक समाज, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और सांस्कृतिक आत्मसम्मान के प्रश्न पर उनके विचार आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

बंकिमचंद्र का जन्म 1838 में बंगाल में हुआ। यह वह समय था जब भारत अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के अधीन था और भारतीय समाज गहरे परिवर्तन से गुजर रहा था। अंग्रेजी शिक्षा, आधुनिक विज्ञान, मुद्रण संस्कृति, ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ और औपनिवेशिक प्रशासन ने भारतीय समाज में नई बौद्धिक हलचल उत्पन्न की। इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया को सामान्यतः "बंगाल पुनर्जागरण" कहा जाता है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, माइकल मधुसूदन दत्त और बंकिमचंद्र जैसे विचारकों ने भारतीय समाज, धर्म और संस्कृति को नए ढंग से समझने का प्रयास किया।

बंकिमचंद्र अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाली पहली भारतीय पीढ़ी से संबंधित थे। वे ब्रिटिश प्रशासनिक सेवा में भी कार्यरत रहे। इस कारण वे पश्चिमी उदारवाद, राष्ट्रवाद और आधुनिक राजनीतिक विचारों से परिचित थे। किन्तु उन्होंने पश्चिमी आधुनिकता को बिना आलोचना के स्वीकार नहीं किया। वे भारतीय समाज की कमजोरियों को पहचानते थे, परंतु साथ ही यह भी मानते थे कि औपनिवेशिक दृष्टिकोण भारतीय सभ्यता को हीन सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है। इसलिए उनके चिंतन में एक ओर सामाजिक सुधार की चिंता दिखाई देती है, दूसरी ओर सांस्कृतिक आत्मसम्मान और राष्ट्रीय चेतना की खोज।

बंकिमचंद्र का चिंतन केवल राजनीतिक राष्ट्रवाद तक सीमित नहीं था। वे समाज की नैतिक संरचना को राष्ट्रीय जीवन का आधार मानते थे। उनके लिए कोई भी राष्ट्र केवल राजनीतिक शक्ति से निर्मित नहीं होता। राष्ट्र के निर्माण के लिए नैतिक अनुशासन, सामाजिक सहयोग और सांस्कृतिक एकता भी आवश्यक हैं। यही कारण है कि उनके लेखन में समाज-सुधार, धर्म, कर्तव्य और राष्ट्रीय चरित्र पर विशेष बल मिलता है।

उनकी प्रसिद्ध रचना '**आनंदमठ**' (***Anandamath***) भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसी उपन्यास में "वंदे मातरम्" की रचना हुई, जो आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रेरणास्रोत बना।

"सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्
शस्यश्यामलां मातरम्।"

इन पंक्तियों में मातृभूमि को केवल भू-भाग नहीं, बल्कि जीवनदायिनी सांस्कृतिक सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ राष्ट्र केवल राजनीतिक इकाई नहीं, बल्कि भावनात्मक और नैतिक समुदाय है। यह दृष्टिकोण यूरोपीय राष्ट्रवाद से प्रभावित होने के बावजूद भारतीय सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से विकसित होता है।

बंकिमचंद्र के राजनीतिक चिंतन को समझने के लिए उनकी रचना **'साम्य' (*Samya*)** विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में वे समानता की अवधारणा पर विचार करते हैं। वे फ्रांसीसी क्रांति और पश्चिमी उदारवाद से उत्पन्न समानता के विचार से परिचित थे, किन्तु उन्होंने उसे भारतीय समाज की वास्तविकताओं के संदर्भ में पुनर्विचारित किया। उनके लिए समानता केवल राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न नहीं थी। वे सामाजिक जीवन में नैतिक संतुलन और मानवीय सहयोग को भी उतना ही महत्त्व देते थे।

बंकिमचंद्र पश्चिमी समाज में बढ़ती हुई व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को लेकर सावधान थे। उन्हें लगता था कि यदि समाज केवल व्यक्तिगत स्वार्थ और भौतिक प्रतिस्पर्धा पर आधारित हो जाए, तो सामाजिक एकता और नैतिक जीवन कमजोर पड़ जाएगा। इस संदर्भ में उनका चिंतन रूसो की आधुनिक सभ्यता की आलोचना से कई स्तरों पर जुड़ता दिखाई देता है। दोनों विचारक यह महसूस करते हैं कि आधुनिक समाज में मनुष्य नैतिक रूप से विखंडित हो सकता है।

फिर भी बंकिमचंद्र आधुनिकता के पूर्ण विरोधी नहीं थे। वे शिक्षा, सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय चेतना को आवश्यक मानते थे। वे यह भी समझते थे कि भारतीय समाज में अनेक सामाजिक बुराइयाँ मौजूद हैं। परंतु उनका समाधान केवल पश्चिमी राजनीतिक सिद्धांतों की नकल नहीं था। वे भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं के भीतर नैतिक पुनर्जागरण की संभावना खोजते हैं।

बंकिमचंद्र के चिंतन में धर्म का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु उनका धर्म केवल कर्मकांड या संप्रदाय तक सीमित नहीं है। वे धर्म को नैतिक अनुशासन और सामाजिक संगठन के रूप में समझते हैं। उनके लिए समाज तभी स्थिर और सशक्त बन सकता है जब उसमें नैतिक कर्तव्य और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना हो। इस दृष्टि से उनका चिंतन पश्चिमी उदार व्यक्तिवाद से भिन्न है।

उनके लेखन में "अनुशीलन" की अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण है। अनुशीलन का अर्थ केवल शारीरिक अभ्यास नहीं, बल्कि नैतिक और मानसिक आत्मनिर्माण है। बंकिमचंद्र मानते थे कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए केवल राजनीतिक नारों से काम नहीं चलेगा। समाज को भीतर से नैतिक रूप से सशक्त बनाना होगा। यही कारण है कि उनके चिंतन में चरित्र, अनुशासन और आत्मसंयम पर विशेष बल मिलता है।

बंकिमचंद्र का राष्ट्रवाद **सांस्कृतिक और नैतिक राष्ट्रवाद** था। वे भारत को केवल प्रशासनिक इकाई नहीं मानते थे। उनके लिए राष्ट्र ऐतिहासिक स्मृति, सांस्कृतिक परंपरा और सामूहिक चेतना से निर्मित होता है। "वंदे मातरम्" इसी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। वे नैतिक सुधार और सामाजिक सामंजस्य पर बल देते हैं, किन्तु आधुनिक समाजवादी या उग्र समानतावादी राजनीति की दिशा में नहीं जाते। उनकी समानता की अवधारणा नैतिक और सांस्कृतिक है, न कि पूर्ण आर्थिक समानता पर आधारित। उन्होंने औपनिवेशिक आधुनिकता और भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के बीच संवाद स्थापित करने का प्रयास किया। वे न तो अंध-पाश्चात्यवाद के समर्थक थे और न ही जड़ परंपरावाद के। उनके चिंतन में आधुनिकता, नैतिकता और राष्ट्रवाद के बीच जटिल संबंध दिखाई देते हैं।

यदि रूसो आधुनिक यूरोप के भीतर असमानता और सभ्यता की आलोचना प्रस्तुत करते हैं, तो बंकिमचंद्र औपनिवेशिक भारत में नैतिक समाज और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। दोनों विचारकों का तुलनात्मक अध्ययन यह दिखाता है कि असमानता का प्रश्न केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, नैतिक और राजनीतिक भी होता है।

3.5 बंकिमचंद्र की समानता की अवधारणा

बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की समानता संबंधी अवधारणा आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में एक विशिष्ट स्थान रखती है क्योंकि वे समानता को केवल राजनीतिक अधिकारों या आर्थिक संसाधनों के वितरण तक सीमित नहीं रखते। उनके लिए समानता का प्रश्न नैतिक समाज, सांस्कृतिक एकता और मानव चरित्र से गहराई से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि उनकी रचना 'साम्य' (*Samya*) को केवल सामाजिक समानता पर लिखा गया निबंध नहीं, बल्कि औपनिवेशिक आधुनिकता और भारतीय समाज के संकट पर गंभीर वैचारिक हस्तक्षेप के रूप में देखा जाना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी का भारत गहरे सामाजिक विभाजनों से घिरा हुआ था। जातिगत पदानुक्रम, औपनिवेशिक शासन, आर्थिक विषमता और सामाजिक रूढ़ियों ने समाज को विखंडित कर रखा था। साथ ही अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी उदारवाद के प्रभाव से स्वतंत्रता, समानता और अधिकारों की नई अवधारणाएँ भारतीय बुद्धिजीवियों तक पहुँच रही थीं। बंकिमचंद्र इस बौद्धिक संक्रमण के केंद्र में थे। वे पश्चिमी राजनीतिक विचारों से प्रभावित थे, किन्तु उन्होंने यह महसूस किया कि यूरोपीय समाज की अवधारणाओं को भारतीय समाज में सीधे लागू नहीं किया जा सकता।

'साम्य' (*Samya*) में बंकिमचंद्र समानता की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, परंतु वे समानता को केवल बाहरी राजनीतिक व्यवस्था के रूप में नहीं देखते। उनके अनुसार यदि समाज नैतिक रूप से दुर्बल हो, तो केवल विधिक समानता पर्याप्त नहीं होगी। समाज में वास्तविक संतुलन तभी स्थापित हो सकता है जब मनुष्य के भीतर नैतिक अनुशासन और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित हो।

यहाँ उनका चिंतन पश्चिमी उदारवाद से भिन्न दिखाई देता है। उदारवाद मुख्यतः व्यक्तिगत अधिकारों और विधिक समानता पर बल देता है, जबकि बंकिमचंद्र सामाजिक सामंजस्य और नैतिक सहयोग को अधिक महत्त्व देते हैं। वे यह समझते हैं कि समाज केवल अधिकारों के आधार पर नहीं चल सकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ को सर्वोच्च मानने लगे, तो सामाजिक जीवन विघटित हो जाएगा।

बंकिमचंद्र समानता की उस अवधारणा के प्रति भी सावधान हैं जो पूर्ण आर्थिक समानता या पूर्ण सामाजिक एकरूपता की माँग करती है। वे मानते हैं कि समाज में विविधता और विभिन्न भूमिकाएँ स्वाभाविक हैं। समस्या तब उत्पन्न होती है जब ये भिन्नताएँ दमन, अपमान और सामाजिक अन्याय में बदल जाती हैं। इसलिए उनके लिए समानता का अर्थ सभी मनुष्यों की नैतिक गरिमा की स्वीकृति है, न कि पूर्ण समानरूपता।

यह दृष्टिकोण रूसो से आंशिक समानता रखता है। रूसो भी अत्यधिक आर्थिक विषमता को राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए खतरा मानते थे, परंतु वे पूर्ण समानता की माँग नहीं करते। इसी प्रकार बंकिमचंद्र भी ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते हैं जहाँ मनुष्य सम्मान और सहयोग के साथ जीवन जी सके। दोनों विचारक समाज में कृत्रिम अहंकार और नैतिक पतन को असमानता की जड़ मानते हैं।

बंकिमचंद्र आधुनिक यूरोपीय समाज में बढ़ती भौतिकवादी प्रवृत्तियों को लेकर चिंतित थे। उन्हें लगता था कि केवल धन और प्रतियोगिता पर आधारित समाज अंततः नैतिक संकट को जन्म देगा। इस संदर्भ में उनका चिंतन आधुनिक पूँजीवादी समाज की आलोचना प्रस्तुत करता है। वे यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि समाज में धन और शक्ति ही सफलता का मानक बन जाए, तो नैतिकता और सामाजिक सहयोग का क्या होगा।

उनके चिंतन में धर्म की भूमिका यहाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। किन्तु यह पुनः स्पष्ट करना आवश्यक है कि बंकिमचंद्र धर्म को केवल कर्मकांड या संप्रदाय के रूप में नहीं देखते। उनके लिए धर्म सामाजिक नैतिकता, आत्मानुशासन और सामूहिक उत्तरदायित्व का आधार है। इसीलिए वे समानता को नैतिक पुनर्निर्माण से जोड़ते हैं।

उनके साहित्यिक लेखन में भी यह दृष्टि दिखाई देती है। "वंदे मातरम्" केवल राष्ट्रप्रेम का गीत नहीं है। उसमें मातृभूमि को ऐसी शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठाकर सामूहिक चेतना से जोड़ती है।

"त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी,
कमला कमलदलविहारिणी।"

इन पंक्तियों में राष्ट्र केवल राजनीतिक सत्ता नहीं, बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक ऊर्जा का स्रोत बन जाता है। बंकिमचंद्र के लिए राष्ट्रीय समुदाय तभी मजबूत होगा जब उसके भीतर नैतिक अनुशासन और सामाजिक एकता होगी। यही कारण है कि उनकी समानता की अवधारणा राष्ट्रवाद से भी जुड़ जाती है।

बंकिमचंद्र का चिंतन औपनिवेशिक शासन की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ था। अंग्रेजी शासन भारतीय समाज को राजनीतिक रूप से अधीन करने के साथ-साथ सांस्कृतिक रूप से भी हीन सिद्ध कर रहा था। इस परिस्थिति में बंकिमचंद्र भारतीय समाज के भीतर आत्मविश्वास और नैतिक चेतना जगाना चाहते थे। उनके लिए समानता केवल सामाजिक सुधार का प्रश्न नहीं, बल्कि राष्ट्रीय पुनर्जागरण का भी प्रश्न था।

फिर भी उनकी समानता की अवधारणा सीमाओं से मुक्त नहीं है। आधुनिक दृष्टि से देखें तो वे जाति और लैंगिक असमानता के प्रश्न पर उतने उग्र या क्रांतिकारी नहीं दिखाई देते जितने बाद में आंबेडकर या फुले हुए। उनका समाधान मुख्यतः नैतिक और सांस्कृतिक सुधार पर आधारित है। वे सामाजिक संघर्ष और संरचनात्मक परिवर्तन की राजनीति को उस तीव्रता से विकसित नहीं करते।

इसके बावजूद भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनका योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने समानता को केवल विधिक अधिकार या आर्थिक वितरण की समस्या नहीं माना। उन्होंने यह दिखाया कि असमानता मनुष्य की नैतिक चेतना, सामाजिक संबंधों और सांस्कृतिक जीवन को भी प्रभावित करती है। इस प्रकार उनका चिंतन सामाजिक न्याय की बहुआयामी समझ विकसित करता है।

समकालीन भारत में बंकिमचंद्र की समानता संबंधी अवधारणा को नए संदर्भों में पढ़ा जा सकता है। आज आर्थिक विकास के बावजूद समाज में गहरी सामाजिक विषमताएँ बनी हुई हैं। उपभोक्तावाद, प्रतिस्पर्धा और पहचान-आधारित राजनीति ने सामाजिक जीवन को और जटिल बना दिया है। ऐसे समय में बंकिमचंद्र का यह आग्रह कि समाज केवल अधिकारों से नहीं, बल्कि नैतिक सहयोग और सामाजिक उत्तरदायित्व से भी निर्मित होता है, अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है।

फिर भी आधुनिक लोकतांत्रिक दृष्टि यह भी कहती है कि नैतिक सुधार के साथ-साथ संस्थागत न्याय और संरचनात्मक परिवर्तन भी आवश्यक हैं। केवल नैतिक उपदेश असमानता को समाप्त नहीं कर सकते। इसी बिंदु पर बंकिमचंद्र और आधुनिक सामाजिक न्याय की राजनीति के बीच एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक संवाद उत्पन्न होता है। यही संवाद उनके चिंतन को आज भी अध्ययन के योग्य बनाता है।

3.6 रूसो और बंकिमचंद्र : असमानता का तुलनात्मक अध्ययन

रूसो और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय का तुलनात्मक अध्ययन यह समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि असमानता का प्रश्न विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में किस प्रकार विकसित होता है। दोनों विचारक अलग-अलग सभ्यताओं, भाषाओं और राजनीतिक परिस्थितियों से संबंधित थे, फिर भी दोनों आधुनिक समाज की नैतिक और सामाजिक समस्याओं को लेकर गहरी चिंता व्यक्त करते हैं। दोनों इस बात को पहचानते हैं कि सभ्यता और सामाजिक संगठन केवल प्रगति के स्रोत नहीं हैं, बल्कि वे मनुष्य के भीतर प्रतिस्पर्धा, अहंकार, निर्भरता और प्रभुत्व की प्रवृत्तियों को भी जन्म दे सकते हैं।

रूसो का चिंतन अठारहवीं शताब्दी के यूरोप की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ, जहाँ पूँजीवाद, निजी संपत्ति और आधुनिक राज्य का विस्तार हो रहा था। दूसरी ओर बंकिमचंद्र उन्नीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक भारत में लिख रहे थे, जहाँ समाज जातिगत पदानुक्रम, औपनिवेशिक प्रभुत्व और सांस्कृतिक संकट से गुजर रहा था। इस प्रकार दोनों के सामने असमानता की प्रकृति अलग थी। रूसो मुख्यतः निजी संपत्ति और सामाजिक प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न असमानता की आलोचना करते हैं, जबकि बंकिमचंद्र सामाजिक विखंडन और नैतिक दुर्बलता को अधिक महत्त्व देते हैं।

मानव स्वभाव के प्रश्न पर दोनों विचारकों में उल्लेखनीय समानता दिखाई देती है। रूसो मानते हैं कि मनुष्य स्वभाव से पूर्णतः दुष्ट नहीं है। समाज की कृत्रिम संरचनाएँ उसे भ्रष्ट बनाती हैं। प्रारंभिक प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अपेक्षाकृत सरल और करुणाशील था। बंकिमचंद्र भी यह मानते हैं कि समाज की नैतिक संरचना मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करती है। यदि समाज केवल स्वार्थ, प्रतियोगिता और भौतिक लालसा पर आधारित हो जाए, तो मनुष्य का नैतिक संतुलन नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार दोनों विचारक सामाजिक जीवन की नैतिक गुणवत्ता को अत्यंत महत्त्व देते हैं।

फिर भी दोनों की दिशा अलग है। रूसो प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटने की बात नहीं करते, लेकिन वे आधुनिक सभ्यता की कृत्रिमता की तीखी आलोचना करते हैं। उनके लिए असमानता का मूल स्रोत निजी संपत्ति और सामाजिक तुलना है। बंकिमचंद्र आधुनिकता की आलोचना अवश्य करते हैं, परंतु वे सांस्कृतिक पुनर्निर्माण और नैतिक अनुशासन के माध्यम से समाज को पुनर्गठित करना चाहते हैं। वे भारतीय समाज को नैतिक रूप से पुनर्जीवित करने की परियोजना प्रस्तुत करते हैं।

रूसो के चिंतन में "अमूर प्रोपरे" अर्थात सामाजिक अहंकार की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य दूसरों की दृष्टि में श्रेष्ठ दिखाई देने की इच्छा से संचालित होने लगता है। यही प्रतिस्पर्धा असमानता और मानसिक असुरक्षा को जन्म देती है। आधुनिक समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान की यह राजनीति आज भी स्पष्ट दिखाई देती है। बंकिमचंद्र भी सामाजिक जीवन में स्वार्थ और नैतिक पतन की समस्या को पहचानते हैं, किन्तु वे इसे सांस्कृतिक और नैतिक पुनर्निर्माण के माध्यम से हल करना चाहते हैं।

निजी संपत्ति के प्रश्न पर दोनों विचारकों के बीच स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। रूसो संपत्ति को सामाजिक असमानता का प्रमुख स्रोत मानते हैं। उनके अनुसार संपत्ति के साथ ही वर्ग-विभाजन, प्रभुत्व और राजनीतिक असमानता का विकास हुआ। दूसरी ओर बंकिमचंद्र संपत्ति को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते। वे आर्थिक संगठन और सामाजिक जीवन की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे यह चाहते हैं कि समाज केवल धन और भौतिक प्रतिस्पर्धा पर आधारित न हो। उनके लिए नैतिक अनुशासन आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने वाला सिद्धांत होना चाहिए।

राजनीतिक दृष्टि से भी दोनों की प्राथमिकताएँ अलग हैं। रूसो लोकप्रिय संप्रभुता और सामान्य इच्छा की अवधारणा के माध्यम से ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना करते हैं जहाँ नागरिक सामूहिक रूप से राजनीतिक जीवन में भाग लें। उनके लिए समानता राजनीतिक स्वतंत्रता की शर्त है। यदि समाज अत्यधिक असमान हो जाएगा, तो लोकतंत्र संभव नहीं रहेगा। बंकिमचंद्र का चिंतन प्रत्यक्ष लोकतांत्रिक राजनीति की अपेक्षा नैतिक समाज और राष्ट्रीय पुनर्जागरण पर अधिक केंद्रित है। वे राजनीतिक स्वतंत्रता से पहले सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण को आवश्यक मानते हैं।

दोनों विचारकों के चिंतन में समुदाय की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। रूसो के लिए वास्तविक राजनीतिक समुदाय वह है जहाँ नागरिक स्वयं को सामूहिक इच्छा का हिस्सा समझें। बंकिमचंद्र भी समाज को केवल व्यक्तियों का समूह नहीं मानते। उनके लिए समाज नैतिक संबंधों और सांस्कृतिक चेतना से निर्मित होता है। यही कारण है कि दोनों व्यक्तिवादी समाज की आलोचना करते हैं।

धर्म के प्रश्न पर दोनों के बीच महत्त्वपूर्ण अंतर है। रूसो **नागरिक धर्म (Civil Religion)** की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, जिसके माध्यम से वे राजनीतिक समुदाय में नैतिक एकता स्थापित करना चाहते हैं। बंकिमचंद्र धर्म को भारतीय समाज की नैतिक और सांस्कृतिक शक्ति के रूप में देखते हैं। उनके लिए धर्म सामाजिक अनुशासन और राष्ट्रीय पुनर्जागरण का स्रोत हो सकता है।

दोनों विचारकों की आलोचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। रूसो पर आरोप लगाया गया कि उनकी प्राकृतिक अवस्था ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित नहीं है और उनकी सामान्य इच्छा की अवधारणा सामूहिकता के नाम पर व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित कर सकती है। बंकिमचंद्र की आलोचना इस आधार पर हुई कि उनका सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कभी-कभी हिंदू प्रतीकों पर अत्यधिक निर्भर दिखाई देता है। आधुनिक आलोचकों ने यह भी कहा कि वे जाति और लैंगिक असमानता के प्रश्न पर पर्याप्त रूप से उग्र नहीं थे।

फिर भी दोनों विचारकों का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने असमानता को केवल आर्थिक या विधिक प्रश्न नहीं माना। उन्होंने यह समझने का प्रयास किया कि असमानता मनुष्य की चेतना, सामाजिक संबंधों और नैतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती है। आधुनिक समाज में जहाँ उपभोक्तावाद, प्रतिस्पर्धा और सामाजिक तुलना लगातार बढ़ रही है, वहाँ रूसो और बंकिमचंद्र दोनों की आलोचनाएँ अत्यंत समकालीन प्रतीत होती हैं।

आज वैश्विक पूँजीवाद ने अभूतपूर्व आर्थिक विकास तो उत्पन्न किया है, किन्तु इसके साथ ही सामाजिक असुरक्षा, मानसिक तनाव और सांस्कृतिक विखंडन भी बढ़ा है। डिजिटल समाज में मनुष्य लगातार तुलना और प्रदर्शन की स्थिति में जी रहा है। रूसो के "अमूर प्रोपरे" और बंकिमचंद्र के नैतिक समाज संबंधी विचार इस स्थिति को समझने में विशेष रूप से उपयोगी हो जाते हैं।

इस प्रकार रूसो और बंकिमचंद्र का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि असमानता केवल संपत्ति का प्रश्न नहीं है। यह मनुष्य की स्वतंत्रता, आत्मसम्मान, सामाजिक संबंधों और नैतिक चेतना का भी प्रश्न है। दोनों विचारक अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों में रहते हुए भी आधुनिक समाज की गहरी आलोचना प्रस्तुत करते हैं। एक ओर रूसो आधुनिक सभ्यता की संरचनात्मक आलोचना करते हैं, दूसरी ओर बंकिमचंद्र सांस्कृतिक और नैतिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हैं। यही तुलनात्मक संवाद इस इकाई को बौद्धिक रूप से अत्यंत समृद्ध बनाता है।

3.7 असमानता, आधुनिकता और समाज

असमानता का प्रश्न आधुनिकता के विकास के साथ और अधिक जटिल हो गया। आधुनिक युग ने स्वतंत्रता, समानता और अधिकारों के आदर्श प्रस्तुत किए, किन्तु साथ ही उसने पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा, औद्योगिक शोषण, औपनिवेशिक प्रभुत्व और सामाजिक विखंडन को भी जन्म दिया। यही आधुनिकता का विरोधाभास है कि जिस युग ने मानव समानता की सबसे अधिक घोषणा की, उसी युग में आर्थिक और सामाजिक असमानताओं के नए रूप भी विकसित हुए। रूसो और बंकिमचंद्र दोनों इस विरोधाभास को अलग-अलग ऐतिहासिक संदर्भों में पहचानते हैं।

यूरोप में आधुनिकता का विकास औद्योगिक क्रांति, वैज्ञानिक प्रगति और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ हुआ। उत्पादन और व्यापार में वृद्धि ने आर्थिक समृद्धि उत्पन्न की, किन्तु इसके साथ ही श्रमिक वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच गहरी विषमता भी बढ़ी। रूसो इस प्रक्रिया के प्रारंभिक आलोचकों में थे। वे समझते थे कि आधुनिक सभ्यता मनुष्य को केवल अधिक समृद्ध नहीं बनाती, बल्कि उसे दूसरों पर निर्भर और प्रतिस्पर्धी भी बनाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा की दौड़ मनुष्य को निरंतर असंतोष की स्थिति में रखती है।

रूसो के लिए आधुनिक समाज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य अब स्वयं के लिए नहीं, बल्कि दूसरों की दृष्टि में जीने लगता है। सम्मान, प्रतिष्ठा और सामाजिक तुलना आधुनिक जीवन के केंद्रीय तत्त्व बन जाते हैं। यह स्थिति व्यक्ति को भीतर से असुरक्षित बनाती है। आधुनिक उपभोक्तावादी समाज में यह प्रवृत्ति और अधिक तीव्र दिखाई देती है। मनुष्य अपनी पहचान को वस्तुओं, जीवन-शैली और सार्वजनिक छवि के माध्यम से स्थापित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार असमानता केवल आर्थिक नहीं रहती, बल्कि सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक भी बन जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में आधुनिकता का अनुभव भिन्न था क्योंकि यहाँ आधुनिकता औपनिवेशिक शासन के माध्यम से आई। अंग्रेजी शिक्षा, आधुनिक प्रशासन और पश्चिमी राजनीतिक विचारों ने भारतीय समाज को प्रभावित किया, परंतु यह प्रक्रिया राजनीतिक अधीनता से जुड़ी हुई थी। औपनिवेशिक शासन भारतीय समाज को "पिछड़ा" और "असभ्य" सिद्ध करके अपने शासन को वैध ठहराना चाहता था। इसी कारण भारतीय बुद्धिजीवियों के सामने दोहरी चुनौती थी: एक ओर सामाजिक सुधार और दूसरी ओर सांस्कृतिक आत्मसम्मान की रक्षा।

बंकिमचंद्र इसी ऐतिहासिक परिस्थिति के चिंतक थे। वे भारतीय समाज की समस्याओं को पहचानते थे, किन्तु साथ ही यह भी मानते थे कि केवल पश्चिमी राजनीतिक मॉडल भारतीय समाज को नहीं समझ सकते। उनके लिए आधुनिकता का अर्थ अपनी सांस्कृतिक पहचान खो देना नहीं था। वे नैतिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के माध्यम से समाज को सशक्त बनाना चाहते थे।

आधुनिकता के साथ व्यक्तिवाद का विकास भी हुआ। व्यक्ति को परंपरागत सामाजिक बंधनों से मुक्त करने की प्रक्रिया ने स्वतंत्रता की नई संभावनाएँ पैदा कीं। किन्तु इसके साथ सामाजिक एकाकीपन और प्रतिस्पर्धा भी बढ़ी। रूसो इस व्यक्तिवादी समाज के आलोचक थे क्योंकि उनके अनुसार इससे सामूहिक जीवन की नैतिकता कमजोर हो जाती है। बंकिमचंद्र भी अत्यधिक स्वार्थपरक व्यक्तिवाद को सामाजिक विघटन का कारण मानते हैं।

यहाँ दोनों विचारकों के चिंतन में समुदाय की अवधारणा महत्त्वपूर्ण हो जाती है। रूसो सामान्य इच्छा के माध्यम से ऐसे राजनीतिक समुदाय की कल्पना करते हैं जहाँ व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित हो सके। बंकिमचंद्र सांस्कृतिक और नैतिक समुदाय की बात करते हैं, जहाँ समाज केवल संवैधानिक व्यवस्था नहीं, बल्कि साझा नैतिक जीवन से निर्मित हो।

आधुनिक पूँजीवाद ने असमानता के नए रूप उत्पन्न किए। पूँजी और श्रम के बीच विभाजन, शहरी और ग्रामीण अंतर, शिक्षा और संसाधनों तक असमान पहुँच, तथा अवसरों की विषमता ने आधुनिक समाज को गहराई से प्रभावित किया। बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवादी विचारकों ने आर्थिक असमानता को वर्गीय शोषण से जोड़ा, जबकि उदारवादी चिंतकों ने अवसर की समानता पर बल दिया। परंतु रूसो और बंकिमचंद्र का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने असमानता के नैतिक और सांस्कृतिक पक्ष को भी समझा।

भारतीय समाज में असमानता केवल आर्थिक नहीं रही। जाति-व्यवस्था ने सामाजिक पदानुक्रम को लंबे समय तक स्थायी रूप दिया। अस्पृश्यता, सामाजिक बहिष्कार और सांस्कृतिक वर्चस्व ने बड़ी आबादी को सम्मानजनक जीवन से वंचित रखा। बंकिमचंद्र ने सामाजिक सामंजस्य की आवश्यकता पर बल दिया, किन्तु बाद में ज्योतिबा फुले और भीमराव आंबेडकर जैसे विचारकों ने जाति-आधारित असमानता की अधिक तीखी आलोचना प्रस्तुत की। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिंतन में समानता का प्रश्न धीरे-धीरे अधिक व्यापक सामाजिक न्याय की दिशा में विकसित हुआ।

आधुनिक लोकतंत्र समानता के सिद्धांत पर आधारित होने का दावा करते हैं, किन्तु व्यवहार में समाजों में गहरी विषमताएँ बनी रहती हैं। विधिक समानता होने के बावजूद शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और राजनीतिक प्रभाव तक पहुँच समान नहीं होती। यही कारण है कि आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में केवल औपचारिक समानता को पर्याप्त नहीं माना जाता। सामाजिक और आर्थिक न्याय की अवधारणा इसी आलोचना से विकसित हुई।

समकालीन वैश्विक समाज में डिजिटल असमानता भी एक नई समस्या बनकर उभरी है। सूचना, तकनीक और इंटरनेट तक असमान पहुँच सामाजिक अवसरों को प्रभावित कर रही है। जो समुदाय तकनीकी संसाधनों से वंचित हैं, वे शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक सहभागिता में पीछे रह जाते हैं। इस प्रकार आधुनिकता ने असमानता के नए आयाम भी उत्पन्न किए हैं।

रूसो और बंकिमचंद्र दोनों इस बात को समझने में सहायता करते हैं कि असमानता केवल संसाधनों का अंतर नहीं है। यह आत्मसम्मान, सामाजिक पहचान और मानवीय गरिमा का भी प्रश्न है। जब समाज में कुछ समूह स्वयं को स्थायी रूप से हीन या वंचित अनुभव करने लगते हैं, तब लोकतंत्र की नैतिक नींव कमजोर हो जाती है।

इसी कारण आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में समानता को केवल आर्थिक नीति का प्रश्न नहीं माना जाता। यह सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व और राजनीतिक सहभागिता से भी जुड़ा हुआ है। रूसो हमें आधुनिक सभ्यता की प्रतिस्पर्धी संरचना की आलोचना करना सिखाते हैं, जबकि बंकिमचंद्र समाज के नैतिक पुनर्निर्माण और सांस्कृतिक आत्मसम्मान की आवश्यकता पर बल देते हैं।

आज जब दुनिया अभूतपूर्व आर्थिक विकास और तकनीकी प्रगति के बावजूद गहरी सामाजिक विषमताओं, पहचान-आधारित संघर्षों और मानसिक असुरक्षा से जूझ रही है, तब इन दोनों विचारकों का अध्ययन और अधिक प्रासंगिक हो जाता है। वे हमें यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि केवल भौतिक प्रगति पर्याप्त नहीं है। यदि समाज में न्याय, सम्मान और नैतिक संतुलन नहीं होगा, तो आधुनिकता स्वयं असमानता और असंतोष का स्रोत बन सकती है।

3.8 समकालीन प्रासंगिकता

रूसो और बंकिमचंद्र का चिंतन आज भी अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि समकालीन विश्व में असमानता केवल आर्थिक प्रश्न नहीं रह गई है। वैश्विक पूँजीवाद, तकनीकी विकास, उपभोक्तावाद, पहचान-आधारित राजनीति

और सांस्कृतिक ध्रुवीकरण ने असमानता के नए रूप उत्पन्न किए हैं। आधुनिक लोकतंत्र समानता और अधिकारों की बात तो करते हैं, किन्तु व्यवहार में समाजों के भीतर गहरी विषमताएँ बनी हुई हैं।

रूसो की आधुनिक सभ्यता संबंधी आलोचना आज के उपभोक्तावादी समाज में विशेष रूप से प्रासंगिक प्रतीत होती है। सोशल मीडिया और डिजिटल संस्कृति ने सामाजिक तुलना को अत्यधिक तीव्र बना दिया है। व्यक्ति लगातार स्वयं को दूसरों के जीवन, सफलता और सार्वजनिक छवि से तुलना करता है। प्रतिष्ठा, लोकप्रियता और दृश्यता सामाजिक मूल्य बन चुके हैं। रूसो के "अमूर प्रोपरे" की अवधारणा इस मनोवैज्ञानिक असुरक्षा को समझने में अत्यंत उपयोगी है।

आर्थिक असमानता भी वैश्विक राजनीति की प्रमुख समस्या बन चुकी है। विश्व की बड़ी संपत्ति सीमित वर्गों के हाथों में केंद्रित होती जा रही है, जबकि विशाल जनसंख्या बेरोजगारी, असुरक्षित श्रम और सीमित अवसरों का सामना कर रही है। रूसो का यह तर्क कि अत्यधिक आर्थिक विषमता राजनीतिक स्वतंत्रता को कमजोर कर देती है, आज भी प्रासंगिक है। यदि कुछ समूह अत्यधिक शक्तिशाली हो जाएँ, तो लोकतांत्रिक समानता केवल औपचारिक सिद्धांत बनकर रह जाती है।

भारत जैसे समाजों में असमानता बहुआयामी है। यहाँ आर्थिक विषमता के साथ-साथ जाति, लिंग, क्षेत्र और धर्म पर आधारित असमानताएँ भी मौजूद हैं। सामाजिक न्याय की राजनीति, आरक्षण, शिक्षा तक पहुँच और प्रतिनिधित्व के प्रश्न आधुनिक भारतीय लोकतंत्र के केंद्रीय मुद्दे हैं। इस संदर्भ में बंकिमचंद्र का सामाजिक नैतिकता और सामूहिक उत्तरदायित्व पर बल महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

समकालीन राजनीति में सांस्कृतिक पहचान का प्रश्न भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गया है। वैश्वीकरण के दौर में अनेक समाज सांस्कृतिक असुरक्षा और पहचान-संकट का अनुभव कर रहे हैं। बंकिमचंद्र का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद इस संदर्भ में नए सिरे से चर्चा का विषय बनता है। हालांकि आधुनिक बहुलतावादी समाज में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को लोकतांत्रिक और समावेशी मूल्यों के साथ संतुलित करना आवश्यक है।

डिजिटल असमानता आधुनिक युग की नई चुनौती है। इंटरनेट, तकनीकी शिक्षा और डिजिटल संसाधनों तक असमान पहुँच सामाजिक अवसरों को प्रभावित कर रही है। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों, संपन्न और वंचित समुदायों के बीच डिजिटल अंतर नई प्रकार की विषमता उत्पन्न कर रहा है। यह स्थिति दिखाती है कि आधुनिकता के साथ असमानता समाप्त नहीं हुई, बल्कि उसने नए रूप ग्रहण कर लिए हैं।

इस प्रकार रूसो और बंकिमचंद्र दोनों हमें यह समझने में सहायता करते हैं कि समानता केवल विधिक अधिकारों का प्रश्न नहीं है। यह सम्मान, सामाजिक सहभागिता, सांस्कृतिक पहचान और नैतिक जीवन से भी जुड़ा हुआ है।

3.9 आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

रूसो और बंकिमचंद्र दोनों के चिंतन ने आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत को गहराई से प्रभावित किया, किन्तु दोनों की सीमाएँ और आलोचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

रूसो की सबसे बड़ी आलोचना उनकी प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा को लेकर की जाती है। आलोचकों का तर्क है कि यह कोई ऐतिहासिक वास्तविकता नहीं, बल्कि दार्शनिक कल्पना है। आधुनिक मानवशास्त्र और इतिहास के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि मनुष्य वास्तव में कभी उस प्रकार की सरल और शांत अवस्था में रहता था जैसा रूसो वर्णित करते हैं।

उनकी "सामान्य इच्छा" की अवधारणा को लेकर भी विवाद रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि सामान्य इच्छा के नाम पर राज्य सामूहिकता को अत्यधिक महत्त्व दे सकता है और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है। इसी कारण कुछ आलोचकों ने रूसो के चिंतन में अधिनायकवादी संभावनाएँ देखी हैं।

स्त्रीवादी आलोचना भी रूसो के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। रूसो ने महिलाओं की भूमिका को मुख्यतः घरेलू और नैतिक क्षेत्र तक सीमित करने की प्रवृत्ति दिखाई। इस कारण उनकी समानता की अवधारणा सार्वभौमिक होते हुए भी व्यवहार में पुरुष-केंद्रित प्रतीत होती है।

फिर भी दोनों विचारकों को केवल उनकी सीमाओं के आधार पर खारिज नहीं किया जा सकता। रूसो ने आधुनिक सभ्यता और सामाजिक विषमता की गहरी आलोचना प्रस्तुत की, जबकि बंकिमचंद्र ने औपनिवेशिक भारत में नैतिक समाज और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आवश्यकता को रेखांकित किया। दोनों का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने असमानता को केवल आर्थिक प्रश्न नहीं माना, बल्कि उसे मानव चेतना, नैतिकता और सामाजिक जीवन से जोड़कर देखा।

3.1 तुलनात्मक सारणी

आधार	**रूसो**	**बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय**
ऐतिहासिक संदर्भ	अठारहवीं शताब्दी का यूरोप	उन्नीसवीं शताब्दी का औपनिवेशिक भारत
प्रमुख चिंता	सामाजिक और राजनीतिक असमानता	नैतिक समाज और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण
प्रमुख ग्रंथ	'डिस्कोर्स ऑन इनइक्वालिटी' (*Discourse on Inequality*)	'साम्य' (*Samya*)
मानव स्वभाव	मूलतः सरल और करुणाशील	नैतिक अनुशासन से संचालित होने योग्य
असमानता का स्रोत	निजी संपत्ति और सामाजिक प्रतिस्पर्धा	नैतिक पतन और सामाजिक विखंडन
आधुनिकता पर दृष्टि	सभ्यता की आलोचना	औपनिवेशिक आधुनिकता की आलोचनात्मक स्वीकृति
समानता की अवधारणा	राजनीतिक और सामाजिक समानता	नैतिक और सामाजिक सामंजस्य
समुदाय की अवधारणा	सामान्य इच्छा पर आधारित राजनीतिक समुदाय	सांस्कृतिक और नैतिक समुदाय
धर्म की भूमिका	नागरिक धर्म	नैतिक और सांस्कृतिक शक्ति

राजनीतिक लक्ष्य	स्वतंत्र और समान नागरिक समाज	राष्ट्रीय पुनर्जागरण और नैतिक समाज
प्रमुख आलोचना	सामान्य इच्छा में अधिनायकवाद की संभावना	सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सीमाएँ

3.111अभ्यास प्रश्न

1. रूसो के असमानता संबंधी सिद्धांत की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
2. रूसो की आधुनिक सभ्यता संबंधी आलोचना की विवेचना कीजिए।
3. बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के समानता संबंधी विचारों का मूल्यांकन कीजिए।
4. 'साम्य' (*Samya*) के संदर्भ में बंकिमचंद्र के सामाजिक चिंतन की चर्चा कीजिए।
5. रूसो और बंकिमचंद्र की समानता संबंधी अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
6. आधुनिक समाज में सामाजिक तुलना और प्रतिस्पर्धा के प्रश्न को रूसो किस प्रकार समझाते हैं?
7. बंकिमचंद्र के चिंतन में नैतिक समाज और राष्ट्रवाद के संबंध की विवेचना कीजिए।
8. क्या असमानता केवल आर्थिक समस्या है? रूसो और बंकिमचंद्र के संदर्भ में उत्तर दीजिए।
9. आधुनिक लोकतंत्र में समानता की अवधारणा की सीमाओं का विश्लेषण कीजिए।
10. समकालीन समाज में रूसो और बंकिमचंद्र की प्रासंगिकता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

3.12 संदर्भ-सूची

- बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय. (2002). *साम्य* (*Samya*) (बिबेक देबरॉय, अनुवादक). नई दिल्ली: लिबर्टी इंस्टीट्यूट।
- चट्टोपाध्याय, बंकिमचंद्र. (1882/2005). *आनंदमठ* (*Anandamath*). नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स।
- मैकएडम, जे. आई. (1972). "द डिस्कोर्स ऑन इनइक्वालिटी एंड द सोशल कॉन्ट्रैक्ट" (*The Discourse on Inequality and the Social Contract*). *फिलॉसफी* (*Philosophy*), 47(182), 308–321।
- पंथम, थॉमस. (1986). "इंट्रोडक्शन: फॉर द स्टडी ऑफ मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट" (*Introduction: For the Study of Modern Indian Political Thought*). थॉमस पंथम एवं केनेथ डॉइच (संपा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया* (*Political Thought in Modern India*) में। नई दिल्ली: सेज।
- रूसो, जाँ-जाक. (1755/1984). *डिस्कोर्स ऑन द ओरिजिन एंड फाउंडेशन्स ऑफ इनइक्वालिटी अमंग मेन* (*Discourse on the Origin and Foundations of Inequality Among Men*). लंदन: पेंगुइन क्लासिक्स।
- रूसो, जाँ-जाक. (1762/1968). द *सोशल कॉन्ट्रैक्ट* (*The Social Contract*). हार्मंड्सवर्थ: पेंगुइन।

- सोरेन्सन, लियोनार्ड. (1990). "नेचुरल इनइक्वालिटी एंड रूसोज़ पॉलिटिकल फिलॉसफी" (*Natural Inequality and Rousseau's Political Philosophy*). द *वेस्टर्न पॉलिटिकल क्वार्टरली* (*The Western Political Quarterly*), 43(4), 763–788।
- सैबाइन, जॉर्ज एच. (1973). *अ हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी* (*A History of Political Theory*). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड एंड आईबीएच।
- स्किनर, क्वेंटिन. (1978). द *फाउंडेशन्स ऑफ मॉडर्न पॉलिटिकल थॉट* (*The Foundations of Modern Political Thought*). कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

भाग-1

लोकतंत्र : जे. एस. मिल एवं डॉ. बी. आर. आंबेडकर

संरचना

4.1 जे. एस. मिल : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उदार लोकतांत्रिक चिंतन

4.2 जे. एस. मिल की लोकतंत्र संबंधी अवधारणा

4.3 डॉ. बी. आर. आंबेडकर : जीवन, ऐतिहासिक संदर्भ एवं लोकतांत्रिक चिंतन

4.4 आंबेडकर की लोकतंत्र संबंधी अवधारणा

4.5 मिल और आंबेडकर : लोकतंत्र का तुलनात्मक अध्ययन

4.6 लोकतंत्र, प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय

4.7 समकालीन प्रासंगिकता

4.8 आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

4.9 तुलनात्मक सारणी

4.10 अभ्यास प्रश्न

4.11 संदर्भ-सूची

4.1 जे. एस. मिल : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उदार लोकतांत्रिक चिंतन

उन्नीसवीं शताब्दी का यूरोप गहरे राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन का युग था। औद्योगिक क्रांति, पूँजीवाद का विस्तार, प्रतिनिधिक संस्थाओं का विकास, प्रेस की स्वतंत्रता, मध्यम वर्ग का उदय और मताधिकार के प्रश्न ने आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति की दिशा को निर्णायक रूप से प्रभावित किया। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जॉन स्टुअर्ट मिल का राजनीतिक चिंतन विकसित हुआ। मिल आधुनिक उदार लोकतंत्र के सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांतकारों में गिने जाते हैं। स्वतंत्रता, प्रतिनिधिक शासन, नागरिकता, व्यक्तित्व-विकास और लोकतांत्रिक भागीदारी के प्रश्न पर उनका चिंतन आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की आधारभूत धरोहर माना जाता है।

जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म 1806 में इंग्लैंड में हुआ। उनके पिता जेम्स मिल स्वयं प्रसिद्ध दार्शनिक और उपयोगितावादी विचारक थे। जेरेमी बेंथम के उपयोगितावादी दर्शन का गहरा प्रभाव जेम्स मिल पर था और यही प्रभाव प्रारंभिक रूप से जॉन स्टुअर्ट मिल के बौद्धिक विकास पर भी पड़ा। बाल्यावस्था से ही मिल को अत्यंत कठोर और व्यवस्थित शिक्षा दी गई। उन्होंने कम आयु में यूनानी और लैटिन भाषा का अध्ययन कर लिया था तथा इतिहास, दर्शन और अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किया।

किन्तु मिल का चिंतन केवल उपयोगितावाद की पुनरावृत्ति नहीं है। युवावस्था में मानसिक संकट और आत्म-संघर्ष के अनुभवों ने उन्हें यह महसूस कराया कि मनुष्य को केवल सुख और उपयोगिता के आधार पर नहीं समझा जा

सकता। यही कारण है कि उनके राजनीतिक चिंतन में व्यक्तित्व, नैतिक विकास और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

मिल का लोकतांत्रिक चिंतन मुख्यतः उनकी रचनाओं 'ऑन लिबर्टी' (*On Liberty*) और '**कन्सिडरेशन्स ऑन रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट' (*Considerations on Representative Government*)** में विकसित होता है। इन ग्रंथों में वे लोकतंत्र को केवल शासन-पद्धति के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे मानव व्यक्तित्व के विकास और नागरिक सहभागिता की प्रक्रिया के रूप में समझते हैं।

मिल ऐसे समय में लिख रहे थे जब इंग्लैंड में मताधिकार का विस्तार और संसदीय सुधार का प्रश्न प्रमुख राजनीतिक मुद्दा था। औद्योगिक क्रांति के कारण नया श्रमिक और मध्यम वर्ग उभर चुका था, किन्तु राजनीतिक प्रतिनिधित्व अभी भी सीमित वर्गों तक केंद्रित था। इसी संदर्भ में लोकतंत्र और प्रतिनिधित्व का प्रश्न आधुनिक राजनीति का केंद्रीय विषय बन गया।

मिल लोकतंत्र के समर्थक थे, परंतु वे लोकतंत्र को केवल बहुमत का शासन नहीं मानते। उनके लिए लोकतंत्र का वास्तविक उद्देश्य नागरिकों के बौद्धिक और नैतिक विकास को संभव बनाना है। यदि लोकतंत्र केवल संख्यात्मक बहुमत तक सीमित हो जाए, तो वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता और विचारों की विविधता के लिए खतरा बन सकता है। यही कारण है कि मिल **"बहुमत की तानाशाही" (Tyranny of the Majority)** के प्रति विशेष रूप से सावधान करते हैं।

'ऑन लिबर्टी' (*On Liberty*) में मिल का सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि व्यक्ति को विचार, अभिव्यक्ति और जीवन-शैली की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए, जब तक उसका आचरण दूसरों को प्रत्यक्ष हानि न पहुँचाए। इसे सामान्यतः **"हानि सिद्धांत"** (Harm Principle) कहा जाता है। मिल के अनुसार समाज या राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता में केवल उसी स्थिति में हस्तक्षेप करना चाहिए जब उसके कार्य से दूसरों को हानि पहुँचती हो।

यह सिद्धांत आधुनिक उदार लोकतंत्र की केंद्रीय आधारशिला बन गया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, असहमति का अधिकार और व्यक्तिगत स्वायत्तता के प्रश्न पर मिल का प्रभाव अत्यंत व्यापक रहा है। वे यह मानते हैं कि विचारों का दमन केवल व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन नहीं है, बल्कि समाज की बौद्धिक प्रगति को भी बाधित करता है। यदि कोई विचार गलत भी हो, तब भी उसे सुनना आवश्यक है क्योंकि सत्य का विकास खुले विमर्श और आलोचना से होता है।

मिल के लिए लोकतंत्र का संबंध शिक्षा और नागरिकता से भी है। वे केवल मताधिकार को पर्याप्त नहीं मानते। लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब नागरिक शिक्षित, विवेकशील और राजनीतिक रूप से सक्रिय हों। प्रतिनिधिक शासन का उद्देश्य केवल सरकार चुनना नहीं, बल्कि नागरिकों को सार्वजनिक जीवन में भागीदारी के माध्यम से विकसित करना भी है।

'कन्सिडरेशन्स ऑन रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट' (*Considerations on Representative Government*) में मिल प्रतिनिधिक लोकतंत्र को आधुनिक समाज के लिए सबसे उपयुक्त शासन-पद्धति मानते हैं। बड़े आधुनिक राष्ट्रों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र संभव नहीं है, इसलिए प्रतिनिधिक संस्थाएँ आवश्यक हैं। किन्तु वे केवल औपचारिक प्रतिनिधित्व से संतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार लोकतांत्रिक संस्थाओं को ऐसा होना चाहिए कि वे समाज के विभिन्न विचारों और हितों को अभिव्यक्ति दे सकें। मिल अल्पसंख्यक मतों के प्रतिनिधित्व के पक्षधर थे। वे आशंकित थे कि यदि केवल बहुमत का शासन स्थापित हो जाए, तो छोटे समूहों और असहमति रखने वाले नागरिकों की

आवाज दब सकती है। इसीलिए वे आनुपातिक प्रतिनिधित्व जैसी व्यवस्थाओं के प्रति सहानुभूति रखते थे। आधुनिक लोकतंत्र में अल्पसंख्यक अधिकारों और बहुलवाद की चर्चा पर मिल का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के प्रश्न पर भी मिल अपने समय से आगे के विचारक थे। **'द सब्जेक्शन ऑफ विमेन' (*The Subjection of Women*)** में उन्होंने महिलाओं की अधीनता की आलोचना की और राजनीतिक तथा सामाजिक समानता की वकालत की। वे महिलाओं को मताधिकार और सार्वजनिक जीवन में भागीदारी का अधिकार देने के समर्थक थे। यह दृष्टिकोण आधुनिक लोकतंत्र की समावेशी अवधारणा की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम था।

फिर भी मिल का लोकतांत्रिक चिंतन सीमाओं से मुक्त नहीं है। वे लोकतंत्र का समर्थन करते हुए भी शिक्षा और योग्यता को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। कुछ स्थानों पर वे "plural voting" अर्थात अधिक शिक्षित व्यक्तियों को अधिक मत देने जैसी अवधारणाओं का समर्थन करते दिखाई देते हैं। इस कारण आलोचकों ने कहा कि उनका लोकतंत्र पूरी तरह समानतावादी नहीं था। उनके चिंतन में उदार अभिजात्यवाद की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है।

इसके अतिरिक्त, मिल का उदारवाद मुख्यतः व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केंद्रित है। आधुनिक आलोचक यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या केवल विधिक स्वतंत्रता पर्याप्त है, जब समाज में आर्थिक और सामाजिक असमानताएँ गहरी हों। यही वह बिंदु है जहाँ आगे चलकर आंबेडकर जैसे विचारक लोकतंत्र को सामाजिक समानता और न्याय से जोड़ते हैं।

फिर भी आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धांत में मिल का स्थान अत्यंत केंद्रीय है। उन्होंने लोकतंत्र को केवल चुनावी प्रक्रिया नहीं माना, बल्कि उसे विचारों की स्वतंत्रता, नागरिक सहभागिता और व्यक्तित्व-विकास से जोड़ा। उनके लिए लोकतंत्र का वास्तविक उद्देश्य स्वतंत्र और विवेकशील नागरिकों का निर्माण करना था।

समकालीन लोकतंत्रों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, मीडिया की भूमिका, असहमति का अधिकार, अल्पसंख्यक अधिकार और नागरिक स्वतंत्रता के प्रश्न आज भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। डिजिटल युग में जहाँ जनमत-निर्माण, सूचना-नियंत्रण और बहुमतवादी राजनीति की नई चुनौतियाँ सामने आई हैं, वहाँ मिल का चिंतन और अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है। इस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल आधुनिक उदार लोकतंत्र के ऐसे सिद्धांतकार हैं जिन्होंने स्वतंत्रता और लोकतंत्र के संबंध को गहराई से समझने का प्रयास किया। उनके लिए लोकतंत्र केवल सत्ता-संरचना नहीं, बल्कि नैतिक और बौद्धिक जीवन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति अपनी क्षमता का स्वतंत्र विकास कर सके और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भागीदारी निभा सके।

4.2 जे. एस. मिल की लोकतंत्र संबंधी अवधारणा

जॉन स्टुअर्ट मिल की लोकतंत्र संबंधी अवधारणा आधुनिक उदार लोकतांत्रिक चिंतन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण आधार मानी जाती है। मिल लोकतंत्र को केवल शासन की तकनीक या चुनावी व्यवस्था के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे मानव स्वतंत्रता, नागरिक सहभागिता और नैतिक विकास की प्रक्रिया के रूप में समझते हैं। उनके लिए लोकतंत्र का मूल्य केवल इस बात में नहीं है कि सरकार जनता द्वारा चुनी जाती है, बल्कि इस बात में है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था मनुष्य की बौद्धिक और नैतिक क्षमताओं के विकास को संभव बनाती है।

मिल का लोकतांत्रिक चिंतन मुख्यतः 'ऑन लिबर्टी' (*On Liberty*) और 'कन्सिडरेशन्स ऑन रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट' (*Considerations on Representative Government*) में विकसित होता है। इन ग्रंथों में वे स्वतंत्रता, प्रतिनिधित्व, नागरिकता, बहुलवाद और राजनीतिक सहभागिता के प्रश्नों पर गहराई से विचार करते हैं।

मिल के अनुसार लोकतंत्र का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह नागरिकों को राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी का अवसर देता है। जब नागरिक शासन की प्रक्रिया में भाग लेते हैं, तो उनमें सार्वजनिक उत्तरदायित्व और राजनीतिक चेतना विकसित होती है। इस प्रकार लोकतंत्र केवल सरकार चुनने की व्यवस्था नहीं, बल्कि नागरिकों के राजनीतिक शिक्षण का माध्यम भी है। मिल प्रतिनिधिक लोकतंत्र के समर्थक थे क्योंकि आधुनिक बड़े राष्ट्रों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र व्यावहारिक नहीं हो सकता। परंतु वे प्रतिनिधिक शासन को केवल बहुमत की सत्ता नहीं बनाना चाहते। वे इस बात को लेकर गहराई से चिंतित थे कि लोकतंत्र कहीं "संख्यात्मक प्रभुत्व" में परिवर्तित न हो जाए। यदि केवल बहुमत की इच्छा ही राजनीति का आधार बन जाए, तो अल्पसंख्यकों, असहमति रखने वालों और स्वतंत्र विचारकों की स्वतंत्रता खतरे में पड़ सकती है।

यही कारण है कि मिल "बहुमत की तानाशाही" की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। यह तानाशाही केवल राज्य द्वारा नहीं, बल्कि समाज द्वारा भी स्थापित हो सकती है। यदि समाज किसी एक प्रकार के विचार, नैतिकता या जीवन-शैली को अनिवार्य बना दे, तो व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट हो सकती है। इसलिए मिल के लिए लोकतंत्र का अर्थ केवल बहुमत का शासन नहीं, बल्कि विविधता और असहमति की रक्षा भी है।

'ऑन लिबर्टी' (*On Liberty*) में मिल विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लोकतंत्र की आधारशिला मानते हैं। वे कहते हैं कि किसी विचार को दबाना संपूर्ण मानवता के विरुद्ध अपराध के समान है। यदि कोई विचार सही है, तो उसे दबाकर समाज सत्य से वंचित हो जाएगा। यदि वह विचार गलत भी है, तब भी उसका सामना करने से सत्य और अधिक स्पष्ट होता है। इस प्रकार लोकतंत्र में खुला विमर्श और आलोचना अत्यंत आवश्यक हैं।

मिल के लिए स्वतंत्रता केवल राजनीतिक अधिकार नहीं है। यह व्यक्तित्व-विकास की शर्त है। वे मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवन-शैली, विचार और व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलना चाहिए। समाज तभी प्रगतिशील बन सकता है जब उसमें विविध प्रकार के व्यक्तित्व और विचार विकसित होने की स्वतंत्रता हो। इसीलिए वे "individuality" अर्थात व्यक्तित्व की विशिष्टता को अत्यंत महत्त्व देते हैं।

लोकतंत्र और स्वतंत्रता के बीच यह संबंध मिल के चिंतन की केंद्रीय विशेषता है। यदि लोकतंत्र केवल सामूहिक इच्छा का शासन बन जाए और व्यक्ति की स्वतंत्रता को दबाने लगे, तो वह लोकतंत्र नहीं रह जाएगा। इसीलिए वे उदार लोकतंत्र के सिद्धांतकार माने जाते हैं। मिल राजनीतिक सहभागिता को भी लोकतंत्र का अनिवार्य तत्व मानते हैं। उनके अनुसार नागरिकों को केवल मतदान करने तक सीमित नहीं रहना चाहिए। स्थानीय प्रशासन, सार्वजनिक चर्चा और नागरिक संस्थाओं में भागीदारी लोकतांत्रिक जीवन को मजबूत बनाती है। यह विचार आधुनिक सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy) की दिशा में महत्त्वपूर्ण संकेत देता है।

प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर मिल अत्यंत संवेदनशील हैं। वे चाहते थे कि संसद समाज के विभिन्न विचारों और हितों का वास्तविक प्रतिनिधित्व करे। इसी कारण वे आनुपातिक प्रतिनिधित्व के विचार के प्रति सहानुभूति रखते थे। उनका मानना था कि यदि संसद केवल बहुसंख्यक मत का प्रतिबिंब बन जाएगी, तो लोकतंत्र का उद्देश्य अधूरा रह जाएगा।

मिल शिक्षा को लोकतंत्र की सफलता के लिए अत्यंत आवश्यक मानते हैं। अशिक्षित और राजनीतिक रूप से निष्क्रिय समाज में लोकतंत्र भीड़तंत्र में बदल सकता है। इसलिए वे नागरिक शिक्षा और बौद्धिक विकास पर बल देते हैं। यहाँ उनका लोकतंत्र केवल संस्थागत व्यवस्था नहीं, बल्कि नैतिक और बौद्धिक संस्कृति बन जाता है।

महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के समर्थन में मिल का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'द सब्जेक्शन ऑफ विमेन' (*The Subjection of Women*) में वे यह तर्क देते हैं कि महिलाओं की अधीनता प्राकृतिक नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है। लोकतंत्र तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक महिलाएँ समान राजनीतिक अधिकारों और सार्वजनिक जीवन में भागीदारी से वंचित रहें। इस दृष्टि से मिल आधुनिक लोकतांत्रिक समानता के अग्रणी सिद्धांतकारों में गिने जाते हैं। फिर भी मिल का लोकतांत्रिक चिंतन आलोचना से मुक्त नहीं है। वे लोकतंत्र के समर्थक होते हुए भी योग्यता और शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। कुछ स्थानों पर वे अधिक शिक्षित व्यक्तियों को अधिक मत देने का समर्थन करते दिखाई देते हैं। इससे उनके चिंतन में उदार अभिजात्यवाद की प्रवृत्ति दिखाई देती है। आलोचकों का मत है कि यह लोकतांत्रिक समानता के सिद्धांत के साथ पूर्णतः संगत नहीं है।

इसके अतिरिक्त मिल का चिंतन मुख्यतः राजनीतिक और वैचारिक स्वतंत्रता पर केंद्रित है। वे सामाजिक और आर्थिक असमानता के प्रश्न को उस गहराई से नहीं विकसित करते जैसे बाद में समाजवादी और सामाजिक न्याय के विचारकों ने किया। यही वह बिंदु है जहाँ आंबेडकर का लोकतांत्रिक चिंतन मिल से अलग दिशा ग्रहण करता है। आंबेडकर के लिए केवल राजनीतिक अधिकार पर्याप्त नहीं हैं। यदि समाज में सामाजिक अपमान और संरचनात्मक असमानता मौजूद हो, तो लोकतंत्र अधूरा रहेगा।

फिर भी आधुनिक लोकतंत्र की बौद्धिक संरचना को समझने के लिए मिल का योगदान अत्यंत केंद्रीय है। उन्होंने लोकतंत्र को केवल चुनाव और शासन की प्रक्रिया नहीं माना, बल्कि स्वतंत्र विचार, असहमति, नागरिक सहभागिता और व्यक्तित्व-विकास की ऐसी व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया जिसमें मनुष्य अपनी क्षमता का मुक्त विकास कर सके।

आज के लोकतांत्रिक समाजों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, मीडिया नियंत्रण, डिजिटल निगरानी, बहुसंख्यकवाद और असहमति के प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन चुके हैं। ऐसे समय में मिल का यह आग्रह कि लोकतंत्र को विविधता और स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए, विशेष रूप से प्रासंगिक प्रतीत होता है। उनके चिंतन का स्थायी महत्त्व इसी में निहित है कि उन्होंने लोकतंत्र को केवल शासन-प्रणाली नहीं, बल्कि स्वतंत्र और विवेकशील नागरिक जीवन की नैतिक परियोजना के रूप में समझा।

4.3 डॉ. बी. आर. आंबेडकर : जीवन, ऐतिहासिक संदर्भ एवं लोकतांत्रिक चिंतन

डॉ. भीमराव रामजी आंबेडकर आधुनिक भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक चिंतकों में गिने जाते हैं। भारतीय संविधान के निर्माण में उनकी केंद्रीय भूमिका के कारण उन्हें प्रायः केवल संविधान-निर्माता के रूप में स्मरण किया जाता है, किन्तु उनका राजनीतिक चिंतन इससे कहीं अधिक व्यापक और गहन है। लोकतंत्र, प्रतिनिधित्व, संवैधानिक नैतिकता, नागरिकता, सामाजिक समानता और राज्य की भूमिका पर उनके विचार आधुनिक भारतीय राजनीतिक सिद्धांत की आधारभूत धरोहर हैं।

आंबेडकर का जन्म 1891 में एक ऐसे सामाजिक वातावरण में हुआ जहाँ जातिगत भेदभाव भारतीय समाज की संरचना में गहराई से उपस्थित था। सामाजिक बहिष्कार और अपमान का अनुभव उनके जीवन का वास्तविक हिस्सा था। यही अनुभव आगे चलकर उनके लोकतांत्रिक चिंतन को गहराई से प्रभावित करता है। उनके लिए लोकतंत्र केवल राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था नहीं था, बल्कि सामाजिक जीवन की ऐसी संरचना था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सम्मान और गरिमा के साथ जीवन जी सके।

आंबेडकर की बौद्धिक यात्रा अत्यंत व्यापक थी। कोलंबिया विश्वविद्यालय और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में अध्ययन के दौरान उन्होंने उदारवाद, लोकतंत्र, संवैधानिकवाद, अर्थशास्त्र और राजनीतिक सिद्धांत का गहन अध्ययन किया। जॉन ड्यूई के लोकतांत्रिक दर्शन का उन पर विशेष प्रभाव माना जाता है। ड्यूई लोकतंत्र को "associated living" अर्थात साझा सामाजिक जीवन की प्रक्रिया के रूप में देखते थे। आंबेडकर के लोकतांत्रिक चिंतन में भी लोकतंत्र का यह सामाजिक आयाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

आंबेडकर का चिंतन औपनिवेशिक भारत की जटिल परिस्थितियों में विकसित हुआ। एक ओर ब्रिटिश शासन था, दूसरी ओर भारतीय समाज के भीतर गहरी सामाजिक असमानताएँ मौजूद थीं। राष्ट्रीय आंदोलन राजनीतिक स्वतंत्रता की माँग कर रहा था, किन्तु आंबेडकर यह प्रश्न उठा रहे थे कि यदि समाज स्वयं गहरे पदानुक्रम और सामाजिक अपमान पर आधारित है, तो केवल राजनीतिक स्वतंत्रता लोकतंत्र की गारंटी कैसे बन सकती है। यही कारण है कि आंबेडकर राजनीतिक लोकतंत्र और सामाजिक लोकतंत्र के बीच स्पष्ट अंतर करते हैं। उनका प्रसिद्ध कथन है कि लोकतंत्र केवल शासन की एक पद्धति नहीं है। यह "associated living" अर्थात सहजीवन का एक तरीका है। उनके लिए लोकतंत्र का वास्तविक अर्थ है कि समाज में स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की भावना विद्यमान हो। यदि सामाजिक जीवन में अपमान और असमानता बनी रहे, तो संवैधानिक लोकतंत्र भी अस्थिर हो जाएगा।

आंबेडकर का लोकतांत्रिक चिंतन मुख्यतः उनके संविधान सभा भाषणों, 'स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज' (*States and Minorities*), 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' (*Annihilation of Caste*) और अन्य राजनीतिक लेखनों में विकसित होता है। इन ग्रंथों में वे लोकतंत्र को केवल निर्वाचन प्रणाली के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय आधारित राजनीतिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

संविधान सभा में 25 नवंबर 1949 को दिए गए अपने प्रसिद्ध भाषण में आंबेडकर ने चेतावनी दी थी कि भारत ने राजनीतिक समानता को स्वीकार कर लिया है, किन्तु सामाजिक और आर्थिक जीवन में अभी भी व्यापक असमानताएँ मौजूद हैं। यदि यह विरोधाभास लंबे समय तक बना रहा, तो लोकतंत्र संकट में पड़ सकता है। यह विचार उनके लोकतांत्रिक चिंतन का केंद्रीय तत्त्व है। आंबेडकर के लिए लोकतंत्र की सफलता का आधार "**संवैधानिक नैतिकता" (Constitutional Morality)** है। संवैधानिक नैतिकता का अर्थ केवल संविधान का औपचारिक पालन नहीं है। इसका अर्थ है लोकतांत्रिक मूल्यों, संस्थाओं और प्रक्रियाओं के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता। वे इस बात को लेकर अत्यंत चिंतित थे कि यदि समाज व्यक्तिपूजा, सामाजिक वर्चस्व और बहुसंख्यकवाद की राजनीति में फँस जाए, तो संवैधानिक लोकतंत्र कमजोर हो सकता है।

उन्होंने विशेष रूप से "hero worship" अर्थात नायक-पूजा के प्रति चेतावनी दी। आंबेडकर के अनुसार लोकतंत्र में किसी व्यक्ति को इतना शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहिए कि संस्थाएँ और संवैधानिक प्रक्रिया उसके अधीन हो जाएँ। यह दृष्टिकोण आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति में अत्यंत प्रासंगिक है, जहाँ कई बार करिश्माई नेतृत्व संस्थागत संतुलन को चुनौती देता है। आंबेडकर प्रतिनिधित्व के प्रश्न को भी अत्यंत महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार लोकतंत्र तभी वास्तविक होगा जब समाज के वंचित और हाशिए पर स्थित समूहों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इसीलिए वे पृथक निर्वाचिका, आरक्षण और संवैधानिक सुरक्षा जैसे उपायों की वकालत करते हैं। उनके लिए प्रतिनिधित्व केवल संख्या का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय का प्रश्न है। यहाँ उनका चिंतन मिल से महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न हो जाता है। मिल बहुमत की तानाशाही से बचने के लिए अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की बात करते हैं, जबकि आंबेडकर सामाजिक बहिष्कार और संरचनात्मक असमानता की वास्तविकता के आधार

पर प्रतिनिधित्व को समझते हैं। उनके लिए लोकतंत्र केवल राजनीतिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि शक्ति-संबंधों के पुनर्गठन की प्रक्रिया भी है।

आंबेडकर स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को लोकतंत्र के तीन अनिवार्य स्तंभ मानते हैं। यह विचार उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति से ग्रहण अवश्य किया, किन्तु उसे भारतीय सामाजिक संदर्भ में पुनर्व्याख्यायित किया। वे मानते हैं कि यदि स्वतंत्रता को समानता से अलग कर दिया जाए, तो शक्तिशाली वर्ग प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे। यदि समानता को स्वतंत्रता से अलग कर दिया जाए, तो लोकतंत्र दमनकारी बन सकता है। और यदि बंधुत्व न हो, तो समाज में नैतिक एकता संभव नहीं होगी।

आंबेडकर का लोकतंत्र इसलिए केवल संस्थागत लोकतंत्र नहीं है। यह सामाजिक संबंधों के लोकतंत्रीकरण की परियोजना भी है। वे चाहते थे कि भारतीय समाज जन्म-आधारित पदानुक्रम और सामाजिक अपमान से मुक्त होकर ऐसे नागरिक समाज में परिवर्तित हो जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को समान सम्मान प्राप्त हो। उनका लोकतांत्रिक चिंतन आधुनिक भारतीय राज्य की संरचना को गहराई से प्रभावित करता है। मौलिक अधिकार, विधि का शासन, संवैधानिक उपचार, प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय की अवधारणाओं में उनके विचारों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

फिर भी आंबेडकर का चिंतन केवल संवैधानिक व्यवस्था तक सीमित नहीं है। वे लोकतंत्र को सामाजिक नैतिकता से जोड़ते हैं। यदि समाज में लोकतांत्रिक संस्कृति विकसित नहीं होगी, तो संविधान भी लोकतंत्र की रक्षा नहीं कर सकेगा। इसीलिए उनका चिंतन केवल विधिक नहीं, बल्कि गहरे नैतिक और सामाजिक आयाम वाला लोकतांत्रिक सिद्धांत प्रस्तुत करता है।

समकालीन भारत में लोकतंत्र, प्रतिनिधित्व, सामाजिक न्याय, बहुसंख्यकवाद और संवैधानिक संस्थाओं की स्वायत्तता पर जो बहसें चल रही हैं, उनके संदर्भ में आंबेडकर का चिंतन अत्यंत प्रासंगिक बना हुआ है। उन्होंने लोकतंत्र को केवल चुनावी प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि समान सम्मान और संवैधानिक नैतिकता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के रूप में समझा। यही उनकी लोकतांत्रिक दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है।

4.4 आंबेडकर की लोकतंत्र संबंधी अवधारणा

डॉ. बी. आर. आंबेडकर की लोकतंत्र संबंधी अवधारणा आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में अत्यंत मौलिक और व्यापक मानी जाती है। वे लोकतंत्र को केवल चुनाव, प्रतिनिधिक संस्थाओं या संवैधानिक ढाँचे तक सीमित नहीं रखते। उनके लिए लोकतंत्र मूलतः सामाजिक जीवन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समान सम्मान, स्वतंत्रता और सहभागिता प्राप्त हो। यही कारण है कि आंबेडकर का लोकतांत्रिक चिंतन सामाजिक न्याय, संवैधानिक नैतिकता और मानव गरिमा के प्रश्नों से गहराई से जुड़ जाता है।

आंबेडकर का लोकतंत्र संबंधी चिंतन मुख्यतः संविधान सभा के भाषणों, 'स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज' (*States and Minorities*), 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' (*Annihilation of Caste*) तथा अन्य राजनीतिक लेखनों में विकसित होता है। इन ग्रंथों में वे लोकतंत्र को केवल राजनीतिक प्रणाली के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

आंबेडकर के अनुसार **लोकतंत्र का वास्तविक आधार सामाजिक समानता है**। यदि समाज गहरे सामाजिक विभाजन और अपमान पर आधारित हो, तो केवल राजनीतिक अधिकार लोकतंत्र को स्थायी नहीं बना सकते। इसी कारण वे राजनीतिक लोकतंत्र और सामाजिक लोकतंत्र के बीच अंतर करते हैं। राजनीतिक लोकतंत्र नागरिकों को मतदान और प्रतिनिधित्व का अधिकार देता है, किन्तु सामाजिक लोकतंत्र समाज में समान सम्मान और

सामाजिक संबंधों के लोकतंत्रीकरण की माँग करता है। संविधान सभा में 25 नवंबर 1949 को दिए गए अपने भाषण में आंबेडकर ने कहा था कि भारत ने राजनीतिक समानता को स्वीकार कर लिया है, परंतु सामाजिक और आर्थिक जीवन में असमानताएँ अभी भी विद्यमान हैं। यदि यह विरोधाभास बना रहेगा, तो लोकतंत्र खतरे में पड़ सकता है। यह विचार उनके लोकतंत्र सिद्धांत की केंद्रीय धुरी है।

आंबेडकर लोकतंत्र को "a mode of associated living" अर्थात सहजीवन की पद्धति के रूप में देखते हैं। यह अवधारणा केवल शासन-पद्धति की नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों की है। लोकतंत्र तभी संभव है जब समाज में लोग एक-दूसरे को समान नैतिक गरिमा के साथ स्वीकार करें। इस प्रकार लोकतंत्र उनके लिए केवल संस्थागत संरचना नहीं, बल्कि सामाजिक नैतिकता भी है। आंबेडकर के लोकतांत्रिक चिंतन में स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे इन तीनों को लोकतंत्र के अविभाज्य तत्त्व मानते हैं। यदि केवल स्वतंत्रता होगी और समानता नहीं, तो शक्तिशाली वर्ग कमजोरों पर प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे। यदि केवल समानता होगी और स्वतंत्रता नहीं, तो समाज दमनकारी हो सकता है। और यदि बंधुत्व नहीं होगा, तो समाज में नैतिक एकता संभव नहीं होगी। यहाँ आंबेडकर का चिंतन फ्रांसीसी क्रांति के आदर्शों से जुड़ता अवश्य है, किन्तु वे इन आदर्शों को भारतीय सामाजिक संदर्भ में पुनर्परिभाषित करते हैं। उनके लिए बंधुत्व विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारतीय समाज जातिगत विभाजनों और सामाजिक दूरी से प्रभावित था। बिना बंधुत्व के लोकतंत्र केवल संवैधानिक औपचारिकता बनकर रह जाएगा।

संवैधानिक नैतिकता (Constitutional Morality) आंबेडकर के लोकतंत्र सिद्धांत की एक और केंद्रीय अवधारणा है। यह अवधारणा उन्होंने मुख्यतः संविधान सभा की बहसों में विकसित की। संवैधानिक नैतिकता का अर्थ केवल संविधान का पालन नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं, संस्थाओं और मूल्यों के प्रति गहरी नैतिक प्रतिबद्धता है। लोकतंत्र तभी स्थिर रह सकता है जब नागरिक और शासक दोनों संवैधानिक मर्यादाओं का सम्मान करें।

आंबेडकर प्रतिनिधित्व को लोकतंत्र का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। उनके लिए लोकतंत्र केवल संख्या का शासन नहीं है। यदि समाज के वंचित समूह राजनीतिक शक्ति से बाहर रखे जाएँ, तो लोकतंत्र वास्तविक नहीं कहा जा सकता। इसी कारण वे पृथक निर्वाचिका, आरक्षण और संवैधानिक सुरक्षा जैसे उपायों का समर्थन करते हैं। यह प्रतिनिधित्व की उदार अवधारणा से आगे जाकर सामाजिक न्याय आधारित प्रतिनिधित्व की अवधारणा है। यहाँ उनका चिंतन जे. एस. मिल से एक महत्त्वपूर्ण संवाद स्थापित करता है। मिल भी बहुमत की तानाशाही से बचने के लिए अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हैं, किन्तु आंबेडकर प्रतिनिधित्व को सामाजिक उत्पीड़न और संरचनात्मक असमानता के संदर्भ में समझते हैं। उनके लिए प्रतिनिधित्व केवल मतों का प्रश्न नहीं, बल्कि सम्मान और शक्ति-साझेदारी का प्रश्न है।

आंबेडकर लोकतंत्र में विधि के शासन और संवैधानिक संस्थाओं की स्वायत्तता को भी अत्यंत महत्त्व देते हैं। वे चाहते थे कि भारतीय लोकतंत्र केवल भावनात्मक राष्ट्रवाद पर आधारित न हो, बल्कि संस्थागत संतुलन और विधिक संरचना पर आधारित हो। इसी कारण मौलिक अधिकार, न्यायपालिका की भूमिका और संवैधानिक उपचार की व्यवस्था भारतीय संविधान में विशेष महत्त्व प्राप्त करती है।

आर्थिक लोकतंत्र का प्रश्न भी आंबेडकर के चिंतन में उपस्थित है। 'स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज' (*States and Minorities*) में वे राज्य समाजवाद के कुछ तत्त्वों की चर्चा करते हैं। उनका मानना था कि यदि आर्थिक संसाधनों पर सीमित वर्गों का नियंत्रण रहेगा, तो राजनीतिक लोकतंत्र भी कमजोर हो जाएगा। इस प्रकार वे लोकतंत्र को सामाजिक और आर्थिक न्याय से जोड़ते हैं।

आंबेडकर की लोकतंत्र संबंधी अवधारणा आधुनिक भारतीय लोकतंत्र के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे लोकतंत्र को केवल चुनावी राजनीति तक सीमित नहीं करते। वे इस बात पर बल देते हैं कि लोकतंत्र को सामाजिक जीवन की संस्कृति बनना चाहिए। यदि समाज में अपमान, असमानता और सामाजिक बहिष्कार बना रहेगा, तो लोकतंत्र का संस्थागत ढाँचा भी स्थिर नहीं रह सकेगा। समकालीन भारत में लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, प्रतिनिधित्व, बहुसंख्यकवाद और संवैधानिक संस्थाओं की भूमिका पर जो बहसें चल रही हैं, उनमें आंबेडकर का चिंतन विशेष रूप से प्रासंगिक बना हुआ है। उन्होंने लोकतंत्र को केवल राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण की प्रणाली नहीं माना, बल्कि उसे मानव गरिमा और सामाजिक समानता पर आधारित नैतिक व्यवस्था के रूप में समझा। यही कारण है कि आंबेडकर आधुनिक भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक सिद्धांतकारों में गिने जाते हैं। उनका लोकतंत्र केवल संवैधानिक नहीं, बल्कि सामाजिक और नैतिक लोकतंत्र भी है।

4.5 मिल और आंबेडकर : लोकतंत्र का तुलनात्मक अध्ययन

जॉन स्टुअर्ट मिल और डॉ. बी. आर. आंबेडकर दोनों आधुनिक लोकतांत्रिक चिंतन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांतकार हैं, किन्तु उनके लोकतंत्र की प्रकृति, उद्देश्य और सामाजिक आधार के संबंध में महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देते हैं। दोनों लोकतंत्र को केवल शासन-पद्धति नहीं मानते, बल्कि उसे मानव विकास और नागरिक जीवन की व्यापक प्रक्रिया के रूप में समझते हैं। फिर भी उनके चिंतन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और सामाजिक संदर्भ अलग होने के कारण उनकी लोकतांत्रिक प्राथमिकताएँ भी भिन्न हैं। मिल का चिंतन उन्नीसवीं शताब्दी के उदार यूरोपीय समाज की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ, जहाँ मुख्य प्रश्न प्रतिनिधिक शासन, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और बहुमत की शक्ति को नियंत्रित करने का था। दूसरी ओर आंबेडकर का चिंतन औपनिवेशिक भारत और जातिगत पदानुक्रम से प्रभावित समाज में विकसित हुआ, जहाँ लोकतंत्र का प्रश्न सामाजिक समानता, प्रतिनिधित्व और मानव गरिमा से गहराई से जुड़ा था।

लोकतंत्र की अवधारणा के स्तर पर दोनों विचारकों में एक महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों लोकतंत्र को केवल चुनावी प्रक्रिया तक सीमित नहीं रखते। मिल लोकतंत्र को नागरिकों के नैतिक और बौद्धिक विकास का माध्यम मानते हैं। किन्तु स्वतंत्रता और समानता के प्रश्न पर दोनों की प्राथमिकताएँ अलग दिखाई देती हैं। मिल के चिंतन का केंद्रीय तत्त्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता है। वे राज्य और समाज दोनों द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अत्यधिक नियंत्रण के विरुद्ध चेतावनी देते हैं। उनके लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यक्तित्व का विकास और असहमति का अधिकार लोकतंत्र की आत्मा हैं।

आंबेडकर भी स्वतंत्रता को महत्त्व देते हैं, किन्तु वे यह स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक समानता के बिना स्वतंत्रता का मूल्य सीमित हो जाता है। यदि समाज जन्म-आधारित पदानुक्रम और अपमान पर आधारित हो, तो केवल विधिक स्वतंत्रता वास्तविक लोकतंत्र स्थापित नहीं कर सकती। इस प्रकार जहाँ मिल उदार स्वतंत्रता पर बल देते हैं, वहीं आंबेडकर सामाजिक लोकतंत्र और समान सम्मान को लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त मानते हैं। बहुमत के प्रश्न पर दोनों विचारकों की चिंता उल्लेखनीय रूप से समान है। मिल "बहुमत की तानाशाही" के विरुद्ध चेतावनी देते हैं। वे आशंकित थे कि लोकतंत्र में बहुसंख्यक समाज अपने विचारों और मूल्यों को अल्पसंख्यकों पर थोप सकता है। इसलिए वे विचारों की विविधता और अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की रक्षा पर बल देते हैं।

आंबेडकर भी बहुसंख्यकवाद के प्रति अत्यंत सावधान थे, किन्तु उनकी चिंता अधिक सामाजिक और संरचनात्मक थी। भारतीय समाज में बहुसंख्यक शक्ति केवल संख्या का प्रश्न नहीं थी, बल्कि सामाजिक वर्चस्व का प्रश्न भी थी। इसी कारण वे संवैधानिक सुरक्षा, प्रतिनिधित्व और संस्थागत संतुलन पर बल देते हैं। उनके लिए लोकतंत्र का अर्थ केवल बहुमत का शासन नहीं, बल्कि कमजोर और वंचित समूहों की सुरक्षा भी है।

प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर दोनों के विचारों में रोचक समानता और अंतर दोनों दिखाई देते हैं। मिल चाहते थे कि संसद समाज के विभिन्न विचारों का प्रतिनिधित्व करे। वे आनुपातिक प्रतिनिधित्व जैसी व्यवस्थाओं के प्रति सहानुभूति रखते थे ताकि अल्पसंख्यक विचार भी राजनीतिक प्रक्रिया में स्थान प्राप्त कर सकें। आंबेडकर प्रतिनिधित्व को और अधिक सामाजिक आधार पर समझते हैं। उनके अनुसार जिन समूहों को ऐतिहासिक रूप से सत्ता और सम्मान से वंचित रखा गया है, उन्हें विशेष राजनीतिक प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है। इसलिए उनका प्रतिनिधित्व सिद्धांत सामाजिक न्याय से गहराई से जुड़ जाता है।

दोनों विचारकों के लोकतंत्र में शिक्षा का विशेष महत्त्व है। मिल शिक्षित नागरिकता को लोकतंत्र की सफलता की शर्त मानते हैं। वे मानते हैं कि लोकतंत्र तभी स्वस्थ रहेगा जब नागरिक विवेकशील और राजनीतिक रूप से जागरूक होंगे। आंबेडकर भी शिक्षा को मुक्ति और लोकतांत्रिक चेतना का साधन मानते हैं। उनका प्रसिद्ध आह्वान "शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो" लोकतांत्रिक भागीदारी और सामाजिक जागरूकता पर बल देता है।

संवैधानिक संस्थाओं के प्रश्न पर आंबेडकर का चिंतन अधिक विकसित और संस्थागत दिखाई देता है। भारतीय संविधान के निर्माण में उनकी भूमिका के कारण वे लोकतंत्र को विधिक और संस्थागत संरचना से गहराई से जोड़ते हैं। संवैधानिक नैतिकता, मौलिक अधिकार, न्यायपालिका और प्रतिनिधिक संस्थाएँ उनके लोकतंत्र सिद्धांत के केंद्रीय तत्त्व हैं। मिल भी विधि के शासन और प्रतिनिधिक संस्थाओं का समर्थन करते हैं, किन्तु उनका चिंतन अधिक दार्शनिक और उदारवादी है।

आर्थिक प्रश्न पर भी दोनों के बीच अंतर स्पष्ट है। मिल मुख्यतः राजनीतिक स्वतंत्रता और व्यक्तित्व-विकास पर केंद्रित हैं। यद्यपि वे अत्यधिक आर्थिक असमानता के प्रति संवेदनशील हैं, फिर भी उनका लोकतंत्र सिद्धांत सामाजिक-आर्थिक पुनर्गठन की दिशा में उतना आगे नहीं जाता। आंबेडकर राजनीतिक लोकतंत्र को आर्थिक और सामाजिक न्याय से जोड़ते हैं। उनके अनुसार यदि आर्थिक संसाधनों और सामाजिक प्रतिष्ठा पर सीमित वर्गों का नियंत्रण बना रहेगा, तो लोकतंत्र अधूरा रहेगा।

धर्म और समाज के प्रश्न पर भी दोनों विचारकों का दृष्टिकोण भिन्न है। मिल उदार धर्मनिरपेक्षता और व्यक्तिगत विवेक की स्वतंत्रता पर बल देते हैं। आंबेडकर धर्म को सामाजिक नैतिकता और मानव गरिमा के संदर्भ में पुनर्विचार करते हैं। उनके लिए ऐसा धर्म स्वीकार्य नहीं हो सकता जो असमानता और सामाजिक अपमान को वैधता प्रदान करे। फिर भी दोनों विचारकों का साझा महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने लोकतंत्र को केवल सत्ता-हस्तांतरण की प्रणाली नहीं माना। दोनों ने लोकतंत्र को नैतिक और बौद्धिक जीवन की व्यवस्था के रूप में समझा। मिल स्वतंत्र और विवेकशील व्यक्तित्व के विकास पर बल देते हैं, जबकि आंबेडकर समान सम्मान और सामाजिक न्याय पर आधारित लोकतंत्र की कल्पना करते हैं।

समकालीन लोकतंत्रों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, बहुसंख्यकवाद, सामाजिक न्याय, प्रतिनिधित्व और संवैधानिक संस्थाओं की भूमिका पर जो बहसें चल रही हैं, उनमें मिल और आंबेडकर दोनों का चिंतन अत्यंत प्रासंगिक बना हुआ है। मिल हमें स्वतंत्रता और असहमति के मूल्य की याद दिलाते हैं, जबकि आंबेडकर यह चेतावनी देते हैं कि सामाजिक असमानता के भीतर लोकतंत्र स्थिर नहीं रह सकता। इस प्रकार मिल और आंबेडकर का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि लोकतंत्र केवल चुनाव या शासन-पद्धति नहीं है। यह स्वतंत्रता, समानता, प्रतिनिधित्व, सामाजिक न्याय और नैतिक नागरिकता के बीच संतुलन स्थापित करने की सतत प्रक्रिया है।

4.6 लोकतंत्र, प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में लोकतंत्र की अवधारणा केवल चुनाव और सरकार-निर्माण तक सीमित नहीं रही। समय के साथ यह स्पष्ट हुआ कि यदि समाज में व्यापक सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ मौजूद हों, तो केवल औपचारिक राजनीतिक अधिकार वास्तविक लोकतंत्र स्थापित नहीं कर सकते। इसी कारण आधुनिक लोकतांत्रिक विमर्श में प्रतिनिधित्व, सामाजिक न्याय, नागरिकता और समान अवसर जैसे प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गए। जे. एस. मिल और डॉ. बी. आर. आंबेडकर दोनों इन प्रश्नों से गहराई से जुड़ते हैं, यद्यपि उनके विश्लेषण की दिशा और प्राथमिकताएँ अलग हैं।

मिल के लिए लोकतंत्र का प्रमुख उद्देश्य नागरिक स्वतंत्रता और राजनीतिक सहभागिता की रक्षा करना है। वे इस बात को लेकर चिंतित हैं कि लोकतंत्र कहीं केवल संख्यात्मक बहुमत की शक्ति में परिवर्तित न हो जाए। इसी कारण वे प्रतिनिधित्व को लोकतंत्र की केंद्रीय शर्त मानते हैं। उनके अनुसार संसद को केवल बहुसंख्यक मत का प्रतिबिंब नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे समाज के विविध विचारों और हितों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए।

मिल विशेष रूप से अल्पसंख्यक मतों की सुरक्षा पर बल देते हैं। वे मानते हैं कि यदि लोकतंत्र में केवल बहुसंख्यक वर्ग का प्रभुत्व स्थापित हो जाए, तो विचारों की स्वतंत्रता और सार्वजनिक विमर्श कमजोर पड़ जाएगा। इसीलिए वे आनुपातिक प्रतिनिधित्व जैसी व्यवस्थाओं के प्रति सहानुभूति रखते हैं। आधुनिक बहुलवादी लोकतंत्र में यह विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मिल का लोकतंत्र सिद्धांत मुख्यतः राजनीतिक प्रतिनिधित्व और वैचारिक विविधता की रक्षा पर केंद्रित है। उनके लिए प्रतिनिधित्व का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि राज्य समाज की विविध बौद्धिक धाराओं और सामाजिक हितों को अभिव्यक्ति दे सके। किन्तु सामाजिक न्याय का प्रश्न उनके चिंतन में उतनी केंद्रीयता प्राप्त नहीं करता जितनी आंबेडकर के यहाँ दिखाई देती है।

आंबेडकर लोकतंत्र को सामाजिक संरचना के प्रश्न से जोड़ते हैं। उनके अनुसार यदि समाज जन्म-आधारित पदानुक्रम, सामाजिक अपमान और ऐतिहासिक बहिष्कार पर आधारित हो, तो केवल राजनीतिक अधिकार पर्याप्त नहीं होंगे। इसी कारण वे प्रतिनिधित्व को केवल चुनावी प्रक्रिया नहीं मानते, बल्कि शक्ति-साझेदारी और सामाजिक सम्मान के प्रश्न के रूप में देखते हैं।

आंबेडकर के लोकतंत्र सिद्धांत की एक केंद्रीय विशेषता यह है कि वे सामाजिक न्याय को लोकतंत्र की आधारशिला मानते हैं। उनके अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र तभी स्थिर रहेगा जब समाज में सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र भी स्थापित हो। संविधान सभा में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि भारत राजनीतिक समानता की दिशा में आगे बढ़ रहा है, किन्तु सामाजिक और आर्थिक जीवन में अभी भी व्यापक विषमता मौजूद है। यह विरोधाभास लोकतंत्र के लिए खतरा बन सकता है।

इसी संदर्भ में आंबेडकर प्रतिनिधित्व की विशेष व्यवस्था का समर्थन करते हैं। **पृथक निर्वाचिका, आरक्षण और संवैधानिक सुरक्षा** की उनकी माँग केवल प्रशासनिक उपाय नहीं थे। वे यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि ऐतिहासिक रूप से वंचित समूह राजनीतिक प्रक्रिया में वास्तविक भागीदारी प्राप्त कर सकें।

यहाँ प्रतिनिधित्व की उदार अवधारणा और सामाजिक न्याय आधारित अवधारणा के बीच अंतर स्पष्ट हो जाता है। मिल प्रतिनिधित्व को मुख्यतः विचारों और मतों की विविधता के संदर्भ में समझते हैं, जबकि आंबेडकर सामाजिक संरचना और शक्ति-संबंधों की वास्तविकता को ध्यान में रखते हैं। उनके लिए प्रतिनिधित्व का प्रश्न सम्मान, आत्मसम्मान और राजनीतिक दृश्यता का भी प्रश्न है। लोकतंत्र और सामाजिक न्याय के संबंध को समझने के लिए आंबेडकर की "संवैधानिक नैतिकता" की अवधारणा भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। संवैधानिक

संस्थाएँ तभी प्रभावी होंगी जब समाज लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता विकसित करे। यदि समाज में सामाजिक वर्चस्व और बहिष्कार की मानसिकता बनी रहे, तो संवैधानिक लोकतंत्र केवल औपचारिक ढाँचा बनकर रह जाएगा।

आधुनिक लोकतंत्रों में यह प्रश्न अत्यंत प्रासंगिक है कि क्या केवल सार्वभौमिक मताधिकार लोकतांत्रिक समानता सुनिश्चित कर सकता है। व्यवहार में समाजों में शिक्षा, संसाधनों, राजनीतिक प्रभाव और सामाजिक प्रतिष्ठा तक पहुँच असमान बनी रहती है। इसी कारण समकालीन लोकतांत्रिक सिद्धांत में **"substantive democracy"** अर्थात सार्थक लोकतंत्र की अवधारणा विकसित हुई, जो केवल औपचारिक अधिकारों से आगे जाकर वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखती है। भारत जैसे समाज में लोकतंत्र का प्रश्न सामाजिक न्याय से अलग नहीं किया जा सकता। जाति, वर्ग, लिंग और क्षेत्रीय असमानताएँ लोकतांत्रिक सहभागिता को प्रभावित करती हैं। यदि कुछ समूह ऐतिहासिक रूप से संसाधनों और सम्मान से वंचित रहे हों, तो समान अवसर की औपचारिक घोषणा पर्याप्त नहीं होगी। इसी कारण भारतीय लोकतंत्र में आरक्षण, प्रतिनिधित्व और सकारात्मक भेदभाव की नीतियाँ विकसित हुईं।

आंबेडकर का चिंतन इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे लोकतंत्र को केवल संवैधानिक संस्थाओं का ढाँचा नहीं मानते। वे यह समझते हैं कि लोकतंत्र की सफलता समाज की नैतिक और सामाजिक संरचना पर निर्भर करती है। यदि नागरिक एक-दूसरे को समान गरिमा के साथ स्वीकार नहीं करेंगे, तो लोकतंत्र कमजोर हो जाएगा।

मिल और आंबेडकर दोनों लोकतंत्र में नागरिकता की सक्रिय भूमिका पर बल देते हैं। दोनों के लिए लोकतंत्र निष्क्रिय प्रजा की व्यवस्था नहीं है। मिल शिक्षित और विवेकशील नागरिकता की आवश्यकता पर बल देते हैं, जबकि आंबेडकर लोकतांत्रिक चेतना और सामाजिक आत्मसम्मान को आवश्यक मानते हैं। समकालीन विश्व में प्रतिनिधित्व का प्रश्न और अधिक जटिल हो गया है। पहचान-आधारित राजनीति, लैंगिक प्रतिनिधित्व, नस्लीय न्याय, आदिवासी अधिकार और धार्मिक अल्पसंख्यकों की राजनीतिक भागीदारी जैसे प्रश्न आधुनिक लोकतंत्र की केंद्रीय चुनौतियाँ बन चुके हैं। इस संदर्भ में मिल का बहुलवादी लोकतंत्र और आंबेडकर का सामाजिक न्याय आधारित लोकतंत्र दोनों अत्यंत प्रासंगिक हैं।

इस प्रकार लोकतंत्र, प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय का संबंध आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की सबसे महत्त्वपूर्ण बहसों में से एक है। मिल लोकतंत्र में स्वतंत्रता और विचारों की विविधता की रक्षा करते हैं, जबकि आंबेडकर लोकतंत्र को सामाजिक समानता और सम्मान की दिशा में विस्तारित करते हैं। दोनों का संयुक्त अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि लोकतंत्र केवल चुनावी तंत्र नहीं, बल्कि न्यायपूर्ण और सहभागी समाज के निर्माण की सतत प्रक्रिया है।

4.7 समकालीन संदर्भ में लोकतंत्र : मिल और आंबेडकर की प्रासंगिकता

समकालीन विश्व में लोकतंत्र एक ओर सबसे व्यापक रूप से स्वीकार की गई राजनीतिक व्यवस्था है, तो दूसरी ओर वह गंभीर संकटों और अंतर्विरोधों से भी घिरा हुआ है। चुनावी लोकतंत्र के विस्तार के बावजूद अनेक समाजों में बहुसंख्यकवाद, राजनीतिक ध्रुवीकरण, आर्थिक विषमता, सूचना-नियंत्रण और संस्थागत क्षरण जैसी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। इस संदर्भ में जॉन स्टुअर्ट मिल और डॉ. बी. आर. आंबेडकर का लोकतांत्रिक चिंतन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो उठता है क्योंकि दोनों लोकतंत्र को केवल चुनावी प्रक्रिया नहीं, बल्कि नैतिक, सामाजिक और बौद्धिक जीवन की संरचना के रूप में समझते हैं।

समकालीन लोकतंत्र की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है बहुसंख्यकवाद (Majoritarianism)। लोकतांत्रिक व्यवस्था में बहुमत को शासन का अधिकार अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जब बहुमत स्वयं को राष्ट्र या समाज का एकमात्र वैध प्रतिनिधि घोषित करने लगे, तब लोकतंत्र का बहुलतावादी स्वरूप कमजोर होने लगता है। मिल ने इसी खतरे को "बहुमत की तानाशाही" कहा था। उनकी चिंता केवल राज्य की शक्ति को लेकर नहीं थी, बल्कि समाज के भीतर विकसित होने वाली वैचारिक एकरूपता को लेकर भी थी।

डिजिटल मीडिया और सोशल मीडिया के युग में यह समस्या और जटिल हो गई है। एल्गोरिथ्मिक सूचना-प्रणालियाँ अक्सर नागरिकों को वैचारिक समूहों में विभाजित कर देती हैं, जहाँ असहमति और आलोचनात्मक संवाद की संभावना कम होती जाती है। सार्वजनिक विमर्श धीरे-धीरे भावनात्मक ध्रुवीकरण और त्वरित प्रतिक्रियाओं में बदलता जा रहा है। इस संदर्भ में मिल का अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और बौद्धिक विविधता पर बल अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है। उनके अनुसार सत्य का विकास केवल खुले विमर्श और आलोचना से संभव है। यदि समाज असहमति को दबाने लगे, तो लोकतंत्र बौद्धिक रूप से जड़ हो जाएगा।

आंबेडकर की प्रासंगिकता विशेष रूप से उस संदर्भ में बढ़ जाती है जहाँ लोकतंत्र औपचारिक रूप से तो मौजूद है, किन्तु सामाजिक जीवन में गहरी असमानताएँ बनी रहती हैं। आधुनिक लोकतंत्रों में सार्वभौमिक मताधिकार और संवैधानिक अधिकारों की स्थापना के बावजूद सामाजिक बहिष्कार, नस्लीय भेदभाव, जातिगत विषमता और आर्थिक असमानता व्यापक रूप से मौजूद हैं। आंबेडकर का यह तर्क कि राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक लोकतंत्र के बिना स्थिर नहीं रह सकता, आज भी गहरी वैचारिक शक्ति रखता है।

भारत के संदर्भ में यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। भारतीय लोकतंत्र विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, किन्तु इसके भीतर सामाजिक और आर्थिक असमानताओं की जटिल संरचनाएँ मौजूद हैं। जाति, वर्ग, लिंग और क्षेत्रीय विषमताएँ नागरिकों की वास्तविक लोकतांत्रिक भागीदारी को प्रभावित करती हैं। आंबेडकर का लोकतंत्र सिद्धांत इसी वास्तविकता को पहचानता है। वे इस भ्रम को तोड़ते हैं कि केवल संवैधानिक अधिकार अपने-आप सामाजिक समानता उत्पन्न कर देंगे।

समकालीन लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व का प्रश्न भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गया है। केवल औपचारिक प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं माना जाता। प्रश्न यह है कि क्या लोकतांत्रिक संस्थाएँ वास्तव में समाज के विविध समूहों की आवाज़ को स्थान दे पा रही हैं। महिलाओं, दलितों, आदिवासियों, धार्मिक अल्पसंख्यकों और अन्य हाशिए पर स्थित समूहों की राजनीतिक भागीदारी आधुनिक लोकतंत्र की गुणवत्ता को निर्धारित करती है। इस संदर्भ में आंबेडकर की प्रतिनिधित्व संबंधी अवधारणा अत्यंत आधुनिक प्रतीत होती है। मिल और आंबेडकर दोनों लोकतंत्र को नागरिकता की सक्रिय प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। परंतु समकालीन लोकतंत्रों में नागरिकता का स्वरूप बदल रहा है। उपभोक्तावाद और मीडिया-आधारित राजनीति ने नागरिक को धीरे-धीरे सक्रिय सहभागी से निष्क्रिय दर्शक में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की है। राजनीतिक दल जनमत को वैचारिक बहस की अपेक्षा भावनात्मक प्रतीकों और संचार-रणनीतियों के माध्यम से प्रभावित करने लगे हैं।

यहाँ मिल का "individuality" अर्थात व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का विचार विशेष महत्त्व प्राप्त करता है। यदि नागरिक स्वतंत्र विवेक और आलोचनात्मक क्षमता खो देंगे, तो लोकतंत्र केवल जन-समर्थन की तकनीक बनकर रह जाएगा। इसी प्रकार आंबेडकर का संवैधानिक नैतिकता पर बल यह स्मरण कराता है कि लोकतंत्र केवल चुनावी बहुमत का प्रश्न नहीं, बल्कि संस्थागत मर्यादा और नागरिक उत्तरदायित्व का भी प्रश्न है।

आर्थिक असमानता भी आधुनिक लोकतंत्र के सामने गंभीर चुनौती है। वैश्विक पूँजीवाद ने अभूतपूर्व आर्थिक विकास अवश्य उत्पन्न किया है, किन्तु इसके साथ ही संपत्ति और संसाधनों का संकेन्द्रण भी बढ़ा है। यदि आर्थिक शक्ति सीमित समूहों के हाथों में केंद्रित हो जाए, तो राजनीतिक समानता कमजोर पड़ने लगती है। चुनावी राजनीति पर कॉर्पोरेट प्रभाव, मीडिया स्वामित्व और आर्थिक संसाधनों की असमानता लोकतंत्र की वास्तविक प्रकृति को प्रभावित करती है।

इस संदर्भ में आंबेडकर का यह विचार कि सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा रहेगा, अत्यंत दूरदर्शी प्रतीत होता है। वहीं मिल का यह आग्रह कि लोकतंत्र में स्वतंत्र सार्वजनिक विमर्श और आलोचनात्मक नागरिकता आवश्यक है, लोकतांत्रिक जीवन की बौद्धिक रक्षा करता है। मिल और आंबेडकर दोनों लोकतंत्र को नैतिक आत्मानुशासन से जोड़ते हैं। लोकतंत्र केवल अधिकारों की व्यवस्था नहीं है। यह दूसरों की स्वतंत्रता और गरिमा को स्वीकार करने की संस्कृति भी है। यदि समाज में असहिष्णुता, सामाजिक घृणा और वैचारिक संकीर्णता बढ़ेगी, तो लोकतंत्र की संस्थाएँ भी कमजोर पड़ जाएँगी।

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में इसी कारण "deliberative democracy", "participatory democracy" और "substantive democracy" जैसी अवधारणाएँ विकसित हुई हैं। ये अवधारणाएँ इस बात पर बल देती हैं कि लोकतंत्र को केवल चुनावी प्रक्रिया तक सीमित नहीं किया जा सकता। नागरिक सहभागिता, सामाजिक समानता, सार्वजनिक विमर्श और नैतिक नागरिकता लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति हैं। मिल और आंबेडकर का चिंतन इन आधुनिक बहसों के साथ गहराई से संवाद स्थापित करता है।

इस प्रकार मिल और आंबेडकर दोनों का लोकतांत्रिक चिंतन आज भी केवल ऐतिहासिक अध्ययन का विषय नहीं है। वे आधुनिक लोकतंत्र के संकटों को समझने और उसकी संभावनाओं को पुनर्विचार करने के लिए बौद्धिक उपकरण प्रदान करते हैं। मिल लोकतंत्र की स्वतंत्रतावादी और बहुलतावादी आत्मा की रक्षा करते हैं, जबकि आंबेडकर लोकतंत्र को सामाजिक न्याय, गरिमा और संवैधानिक नैतिकता से जोड़ते हैं। दोनों का संयुक्त अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि लोकतंत्र केवल शासन की तकनीक नहीं, बल्कि स्वतंत्रता, समानता और नैतिक नागरिकता पर आधारित सतत सामाजिक परियोजना है।

4.8 लोकतंत्र की आलोचनात्मक समझ : स्वतंत्रता, समानता और संवैधानिकता का प्रश्न

मिल और आंबेडकर के लोकतांत्रिक चिंतन का अध्ययन केवल उनके विचारों के वर्णन तक सीमित नहीं रहना चाहिए। तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का उद्देश्य यह भी है कि विभिन्न लोकतांत्रिक अवधारणाओं के बीच उपस्थित तनावों और अंतर्विरोधों को समझा जाए। मिल और आंबेडकर दोनों लोकतंत्र के समर्थक हैं, किन्तु दोनों इस बात को भी पहचानते हैं कि लोकतंत्र अपने भीतर अनेक संकटों और सीमाओं को समाहित करता है।

लोकतंत्र का पहला बुनियादी तनाव स्वतंत्रता और समानता के बीच दिखाई देता है। उदार लोकतांत्रिक परंपरा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अत्यंत महत्त्व दिया गया। मिल इसी परंपरा के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधियों में से हैं। उनके लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता केवल राजनीतिक अधिकार नहीं, बल्कि मानव व्यक्तित्व के विकास की अनिवार्य शर्त है। यदि समाज व्यक्तियों को एकरूपता में बाँध देगा, तो सृजनात्मकता, आलोचनात्मक विवेक और नैतिक विकास समाप्त हो जाएगा।

किन्तु आंबेडकर इस प्रश्न को एक अलग सामाजिक संदर्भ में देखते हैं। वे यह स्पष्ट करते हैं कि औपचारिक स्वतंत्रता तब तक सीमित रहेगी जब तक समाज में वास्तविक समानता स्थापित नहीं होती। यदि कुछ समूह ऐतिहासिक रूप से शिक्षा, संसाधनों और सम्मान से वंचित हों, तो समान विधिक अधिकार भी वास्तविक

स्वतंत्रता सुनिश्चित नहीं कर सकते। इस प्रकार आंबेडकर उदार लोकतंत्र की उस सीमा की ओर संकेत करते हैं जहाँ स्वतंत्रता का सिद्धांत सामाजिक संरचना की असमानताओं से टकराता है।

यहीं से लोकतंत्र की "औपचारिक" और "सार्थक" अवधारणा के बीच अंतर उभरता है। औपचारिक लोकतंत्र चुनाव, संविधान और राजनीतिक अधिकारों की स्थापना करता है। किन्तु सार्थक लोकतंत्र यह प्रश्न उठाता है कि क्या नागरिक वास्तव में उन अधिकारों का उपयोग करने की समान क्षमता रखते हैं। आंबेडकर का चिंतन लोकतंत्र की इसी सार्थक अवधारणा की दिशा में आगे बढ़ता है।

मिल का लोकतंत्र सिद्धांत बहुलवाद और असहमति की रक्षा करता है। वे इस बात पर बल देते हैं कि समाज में विभिन्न विचारों और जीवन-शैलियों के लिए स्थान होना चाहिए। लोकतंत्र की शक्ति उसकी विविधता में निहित है। यह विचार आधुनिक उदार बहुलवाद की आधारशिला बन गया।

किन्तु यहाँ एक महत्त्वपूर्ण आलोचना भी सामने आती है। क्या केवल वैचारिक बहुलवाद पर्याप्त है यदि समाज आर्थिक और सामाजिक रूप से गहराई से विभाजित हो? मार्क्सवादी और सामाजिक न्याय के विचारकों ने उदार लोकतंत्र की आलोचना करते हुए कहा कि आर्थिक शक्ति और सामाजिक वर्चस्व लोकतांत्रिक समानता को कमजोर कर देते हैं। आंबेडकर भी इस आलोचना के निकट दिखाई देते हैं, यद्यपि वे उदार संवैधानिक लोकतंत्र को अस्वीकार नहीं करते।

आंबेडकर की विशेषता यह है कि वे लोकतंत्र को सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जोड़ते हैं। उनके लिए लोकतंत्र स्थिर व्यवस्था नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों के पुनर्गठन की परियोजना है। यही कारण है कि वे केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व की बात नहीं करते, बल्कि सामाजिक सम्मान और मानव गरिमा को लोकतंत्र का आधार मानते हैं।

संवैधानिकता का प्रश्न भी दोनों विचारकों के चिंतन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मिल राज्य की शक्ति को सीमित करने और नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा के पक्षधर हैं। उनके लिए विधि का शासन और नागरिक अधिकार लोकतंत्र की सुरक्षा के आवश्यक साधन हैं। आंबेडकर इस विचार को और अधिक संस्थागत गहराई प्रदान करते हैं। संविधान सभा की बहसों में वे बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि लोकतंत्र केवल राजनीतिक भावना पर नहीं चल सकता। उसे **संस्थागत संतुलन, संवैधानिक प्रक्रिया और विधिक मर्यादाओं** की आवश्यकता होती है। यदि लोकतंत्र केवल भावनात्मक जनसमर्थन पर आधारित हो जाए, तो वह आसानी से बहुसंख्यकवादी या अधिनायकवादी दिशा ग्रहण कर सकता है।

यहीं "संवैधानिक नैतिकता" की अवधारणा विशेष महत्त्व प्राप्त करती है। आंबेडकर यह स्पष्ट करते हैं कि संविधान कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो, यदि उसे संचालित करने वाले लोग लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होंगे, तो लोकतंत्र संकट में पड़ जाएगा। यह विचार आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र की सबसे गहरी अंतर्दृष्टियों में से एक माना जाता है।

समकालीन राजनीति में यह प्रश्न और अधिक जटिल हो गया है। अनेक लोकतांत्रिक समाजों में चुनावी वैधता प्राप्त सरकारें स्वयं संवैधानिक संस्थाओं की स्वायत्तता को चुनौती देने लगती हैं। न्यायपालिका, मीडिया, विश्वविद्यालय और नागरिक संस्थाएँ राजनीतिक ध्रुवीकरण के दबाव में आने लगती हैं। ऐसे समय में मिल का स्वतंत्र सार्वजनिक विमर्श पर बल और आंबेडकर का संवैधानिक नैतिकता पर आग्रह दोनों अत्यंत प्रासंगिक हो उठते हैं।

लोकतंत्र की एक और सीमा "राजनीतिक समानता" और "सामाजिक शक्ति" के बीच अंतर में दिखाई देती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था प्रत्येक नागरिक को एक मत अवश्य देती है, किन्तु सभी नागरिक समान सामाजिक प्रभाव नहीं रखते। आर्थिक संसाधन, मीडिया पहुँच, सामाजिक प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक पूँजी राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि आधुनिक लोकतंत्र में सत्ता केवल चुनावी संख्या का प्रश्न नहीं रह जाती, बल्कि सामाजिक संरचना का भी प्रश्न बन जाती है।

आंबेडकर इस संरचनात्मक असमानता को गहराई से पहचानते हैं। उनके लिए लोकतंत्र तभी वास्तविक होगा जब समाज में सम्मान और अवसरों का पुनर्वितरण हो। वहीं मिल इस बात पर बल देते हैं कि लोकतंत्र को वैचारिक स्वतंत्रता और आलोचनात्मक नागरिकता की रक्षा करनी चाहिए। दोनों विचारकों का तुलनात्मक अध्ययन यह दिखाता है कि लोकतंत्र की कोई एक अंतिम या पूर्ण अवधारणा नहीं है। लोकतंत्र निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया है जिसमें स्वतंत्रता, समानता, प्रतिनिधित्व, न्याय और संवैधानिकता के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

यदि केवल स्वतंत्रता पर बल दिया जाए, तो सामाजिक असमानता लोकतंत्र को खोखला बना सकती है। यदि केवल समानता पर बल दिया जाए और स्वतंत्रता की उपेक्षा हो, तो लोकतंत्र दमनकारी बन सकता है। यदि संवैधानिक संस्थाएँ कमजोर हो जाएँ, तो बहुसंख्यकवाद लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अधिनायकवाद में बदल सकता है। मिल और आंबेडकर दोनों अपने-अपने तरीके से इन खतरों की ओर संकेत करते हैं।

इस प्रकार लोकतंत्र की आलोचनात्मक समझ हमें यह सिखाती है कि लोकतंत्र केवल शासन का ढाँचा नहीं है। यह स्वतंत्र नागरिकता, सामाजिक न्याय, नैतिक सह-अस्तित्व और संवैधानिक अनुशासन पर आधारित जटिल राजनीतिक संस्कृति है। मिल और आंबेडकर का संयुक्त अध्ययन आधुनिक लोकतंत्र की संभावनाओं और सीमाओं दोनों को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण बौद्धिक आधार प्रदान करता है।

4.9 मिल और आंबेडकर : तुलनात्मक विश्लेषण की सैद्धांतिक संभावनाएँ

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत का उद्देश्य केवल दो विचारकों के बीच समानताओं और अंतरों की सूची प्रस्तुत करना नहीं है। इसका उद्देश्य यह समझना भी है कि विभिन्न बौद्धिक परंपराएँ लोकतंत्र जैसे सार्वभौमिक प्रश्नों को किस प्रकार अलग-अलग ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों में पुनर्परिभाषित करती हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल और डॉ. बी. आर. आंबेडकर का तुलनात्मक अध्ययन इसी दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दोनों विचारक लोकतंत्र के समर्थक हैं, किन्तु दोनों लोकतंत्र की अलग-अलग संकट स्थितियों की पहचान करते हैं। मिल की चिंता मुख्यतः आधुनिक उदार समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा को लेकर है। औद्योगिक समाज, सार्वजनिक मत (public opinion) और बढ़ती लोकतांत्रिक राजनीति के भीतर वे यह अनुभव करते हैं कि व्यक्ति धीरे-धीरे सामाजिक अनुरूपता के दबाव में आ सकता है। इसलिए उनका लोकतंत्र सिद्धांत स्वतंत्र विचार, असहमति और व्यक्तित्व-विकास पर केंद्रित है।

इसके विपरीत आंबेडकर ऐसे समाज में लिख रहे थे जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न केवल राज्य या सार्वजनिक मत के दबाव से नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना से जुड़ा हुआ था। भारतीय समाज में जाति-आधारित पदानुक्रम ने बड़ी आबादी को सम्मान, अवसर और सार्वजनिक जीवन से वंचित कर रखा था। इसलिए आंबेडकर का लोकतंत्र सिद्धांत सामाजिक न्याय और गरिमा पर आधारित लोकतंत्र की दिशा में विकसित होता है। यहाँ लोकतंत्र की दो भिन्न बौद्धिक परंपराएँ दिखाई देती हैं। मिल उदार लोकतंत्र की परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जहाँ मुख्य प्रश्न है: व्यक्ति को राज्य और समाज की अति-शक्ति से कैसे बचाया जाए? आंबेडकर **सामाजिक लोकतंत्र** की परंपरा

को विकसित करते हैं, जहाँ मुख्य प्रश्न है: समाज के भीतर संरचनात्मक असमानताओं को समाप्त किए बिना लोकतंत्र कैसे संभव होगा?

फिर भी दोनों के चिंतन में एक गहरी समानता यह है कि दोनों लोकतंत्र को नैतिक संस्कृति मानते हैं। लोकतंत्र केवल संस्थागत ढाँचा नहीं हो सकता। यदि नागरिकों में लोकतांत्रिक चेतना, सहिष्णुता और सार्वजनिक उत्तरदायित्व का विकास नहीं होगा, तो लोकतंत्र स्थिर नहीं रह सकेगा।

मिल के यहाँ यह नैतिकता मुख्यतः स्वतंत्र विवेक और बौद्धिक स्वायत्तता के रूप में सामने आती है। वे ऐसे नागरिक की कल्पना करते हैं जो आलोचनात्मक सोच रखने वाला, स्वतंत्र निर्णय लेने वाला और सार्वजनिक विमर्श में भाग लेने वाला हो। आंबेडकर के यहाँ लोकतांत्रिक नैतिकता का स्वरूप कुछ भिन्न है। वे समान सम्मान, बंधुत्व और संवैधानिक मर्यादा को लोकतंत्र का आधार मानते हैं। उनके लिए लोकतंत्र का संकट केवल वैचारिक असहिष्णुता नहीं, बल्कि सामाजिक अपमान और बहिष्कार भी है। इसीलिए उनका चिंतन लोकतंत्र को सामाजिक नैतिकता से जोड़ता है।

दोनों विचारकों के तुलनात्मक अध्ययन से लोकतंत्र की अवधारणा का एक व्यापक स्वरूप उभरता है। मिल लोकतंत्र की उदार-स्वतंत्रतावादी आत्मा की रक्षा करते हैं, जबकि आंबेडकर उसे सामाजिक न्याय और **मानवीय गरिमा** की दिशा में विस्तारित करते हैं। यदि केवल मिल को पढ़ा जाए, तो लोकतंत्र का सामाजिक प्रश्न पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं होता। यदि केवल आंबेडकर को पढ़ा जाए, तो लोकतंत्र में स्वतंत्र विचार और वैचारिक बहुलता के उदार पक्ष की उपेक्षा हो सकती है। दोनों का संयुक्त अध्ययन लोकतंत्र की अधिक संतुलित और समग्र समझ विकसित करता है।

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में यह बहस अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि क्या उदार लोकतंत्र सामाजिक असमानताओं को पर्याप्त रूप से संबोधित कर सकता है। कुछ विचारकों का मत है कि उदार लोकतंत्र केवल औपचारिक समानता प्रदान करता है, जबकि वास्तविक सामाजिक शक्ति और संसाधनों का वितरण असमान बना रहता है। आंबेडकर का चिंतन इस आलोचना को गंभीरता से सामने लाता है।

दूसरी ओर कुछ आलोचक यह भी कहते हैं कि यदि लोकतंत्र केवल समूह-आधारित प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय की राजनीति तक सीमित हो जाए, तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सार्वजनिक विवेक की उदार परंपरा कमजोर हो सकती है। मिल का चिंतन इस खतरे के प्रति सावधान करता है।

इस प्रकार दोनों विचारकों के बीच संवाद लोकतंत्र की दो केंद्रीय आवश्यकताओं को सामने लाता है:

- स्वतंत्रता और असहमति की रक्षा
- समानता और सामाजिक न्याय की स्थापना

लोकतंत्र तभी स्थिर और नैतिक रूप से वैध हो सकता है जब ये दोनों तत्व संतुलित रूप से उपस्थित हों।

तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से मिल और आंबेडकर का अध्ययन पश्चिमी और भारतीय राजनीतिक परंपराओं के बीच संवाद का भी उदाहरण है। यह अध्ययन यह दिखाता है कि लोकतंत्र कोई स्थिर पश्चिमी अवधारणा नहीं है जिसे अन्य समाज केवल ग्रहण कर लें। विभिन्न समाज अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के आधार पर लोकतंत्र की अवधारणा को पुनर्परिभाषित करते हैं। आंबेडकर आधुनिक लोकतंत्र की भाषा को भारतीय सामाजिक वास्तविकताओं के भीतर पुनर्गठित करते हैं। वे उदार संवैधानिक लोकतंत्र को स्वीकार करते

हुए भी उसे सामाजिक न्याय के प्रश्न से जोड़ते हैं। इस प्रकार वे केवल पश्चिमी लोकतांत्रिक सिद्धांत के अनुयायी नहीं, बल्कि उसके आलोचनात्मक पुनर्निर्माता भी हैं।

आज के वैश्विक लोकतंत्रों में जहाँ एक ओर बहुसंख्यकवाद और लोकलुभावन राजनीति बढ़ रही है, वहीं दूसरी ओर पहचान-आधारित संघर्ष और सामाजिक असमानताएँ भी तीव्र हो रही हैं। ऐसे समय में मिल और आंबेडकर दोनों का संयुक्त अध्ययन लोकतंत्र की रक्षा के लिए आवश्यक बौद्धिक आधार प्रदान करता है। मिल हमें यह स्मरण कराते हैं कि लोकतंत्र की आत्मा स्वतंत्र विचार और असहमति में निहित है। आंबेडकर हमें यह स्मरण कराते हैं कि लोकतंत्र बिना सामाजिक सम्मान और समानता के टिक नहीं सकता। दोनों मिलकर यह स्पष्ट करते हैं कि लोकतंत्र केवल राजनीतिक सत्ता की प्रणाली नहीं, बल्कि स्वतंत्रता, समानता, गरिमा और संवैधानिक नैतिकता पर आधारित मानवीय सभ्यता की परियोजना है।

4.10 तुलनात्मक सारणी

आधार	**जे. एस. मिल**	**डॉ. बी. आर. आंबेडकर**
ऐतिहासिक संदर्भ	उन्नीसवीं शताब्दी का औद्योगिक एवं उदार यूरोप	औपनिवेशिक भारत एवं जाति-आधारित सामाजिक संरचना
प्रमुख चिंता	व्यक्तिगत स्वतंत्रता और बहुमत की शक्ति को सीमित करना	सामाजिक न्याय, समानता और लोकतांत्रिक पुनर्गठन
लोकतंत्र की अवधारणा	प्रतिनिधिक एवं उदार लोकतंत्र	सामाजिक एवं संवैधानिक लोकतंत्र
प्रमुख ग्रंथ	'ऑन लिबर्टी' (*On Liberty*), 'कन्सिडरेशन्स ऑन रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट' (*Considerations on Representative Government*)	'स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज' (*States and Minorities*), संविधान सभा भाषण, 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' (*Annihilation of Caste*)
लोकतंत्र का उद्देश्य	व्यक्तित्व-विकास और नागरिक स्वतंत्रता	समान गरिमा और सामाजिक न्याय
स्वतंत्रता की अवधारणा	विचार, अभिव्यक्ति और जीवन-शैली की स्वतंत्रता	सामाजिक अपमान से मुक्त मानवीय स्वतंत्रता
समानता पर दृष्टि	औपचारिक राजनीतिक समानता	सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समानता
बहुमत के प्रति दृष्टिकोण	"बहुमत की तानाशाही" की आलोचना	बहुसंख्यकवाद और सामाजिक वर्चस्व की आलोचना

प्रतिनिधित्व की अवधारणा	वैचारिक बहुलवाद और अल्पसंख्यक मतों का प्रतिनिधित्व	वंचित समूहों का सामाजिक न्याय आधारित प्रतिनिधित्व
नागरिकता	विवेकशील और शिक्षित नागरिकता	सम्मान और सहभागिता पर आधारित नागरिकता
संवैधानिकता	राज्य की शक्ति पर नियंत्रण	संवैधानिक नैतिकता और संस्थागत संतुलन
शिक्षा की भूमिका	लोकतांत्रिक चेतना और विवेक का विकास	सामाजिक मुक्ति और आत्मसम्मान का साधन
महिलाओं पर दृष्टि	महिलाओं के मताधिकार और समानता के समर्थक	लैंगिक समानता को सामाजिक लोकतंत्र से जोड़ते हैं
लोकतंत्र की सीमा	उदार अभिजात्यवाद की प्रवृत्ति	सामाजिक न्याय पर अत्यधिक संरचनात्मक बल
समकालीन प्रासंगिकता	अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, बहुलवाद, असहमति	सामाजिक न्याय, प्रतिनिधित्व, संवैधानिक नैतिकता

4.11 अभ्यास प्रश्न

1. जे. एस. मिल के लोकतंत्र संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए।
2. मिल की "बहुमत की तानाशाही" संबंधी अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
3. डॉ. बी. आर. आंबेडकर के लोकतंत्र संबंधी चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
4. आंबेडकर के अनुसार सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है? स्पष्ट कीजिए।
5. "संवैधानिक नैतिकता" की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
6. लोकतंत्र और सामाजिक न्याय के संबंध को आंबेडकर के संदर्भ में समझाइए।
7. मिल और आंबेडकर के लोकतंत्र संबंधी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
8. क्या केवल राजनीतिक समानता लोकतंत्र को सफल बना सकती है? मिल और आंबेडकर के संदर्भ में उत्तर दीजिए।
9. आधुनिक लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व की समस्या का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
10. समकालीन लोकतंत्र के संकटों को समझने में मिल और आंबेडकर की प्रासंगिकता का मूल्यांकन कीजिए।

4.12 संदर्भ-सूची

- आंबेडकर, भीमराव रामजी. (1936/2014). *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट* (*Annihilation of Caste*). नई दिल्ली: नवयाना।
- आंबेडकर, भीमराव रामजी. (1947). *स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज* (*States and Minorities*). नई दिल्ली: डॉ. आंबेडकर फाउंडेशन।
- आंबेडकर, भीमराव रामजी. (1957/2011). द *बुद्ध एंड हिज धम्म* (*The Buddha and His Dhamma*). नई दिल्ली: डॉ. आंबेडकर फाउंडेशन।
- आंबेडकर, भीमराव रामजी. (1989). *डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर : राइटिंग्स एंड स्पीचेज* (*Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches*). मुंबई: महाराष्ट्र सरकार।
- ज़ेलियट, एलेनॉर. (1986). "द सोशल एंड पॉलिटिकल थॉट ऑफ बी. आर. आंबेडकर" (*The Social and Political Thought of B.R. Ambedkar*). थॉमस पंथम एवं केनेथ डॉइच (संपा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया* (*Political Thought in Modern India*) में। नई दिल्ली: सेज।
- मिल, जॉन स्टुअर्ट. (1859/2003). *ऑन लिबर्टी* (*On Liberty*). लंदन: पेंगुइन क्लासिक्स।
- मिल, जॉन स्टुअर्ट. (1861/1991). *कन्सिडरेशन्स ऑन रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट* (*Considerations on Representative Government*). न्यूयॉर्क: प्रोमेथियस बुक्स।
- मिल, जॉन स्टुअर्ट. (1869/2006). द *सब्जेक्शन ऑफ विमेन* (*The Subjection of Women*). कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- राजशेखरैया, ए. एम., एवं जयराज, एच. (1991). "पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ डॉ. बी. आर. आंबेडकर" (*Political Philosophy of Dr. B.R. Ambedkar*). द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस* (*The Indian Journal of Political Science*), 52(3), 357–375।
- सैबाइन, जॉर्ज एच. (1973). *अ हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी* (*A History of Political Theory*). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड एंड आईबीएच।
- बाउचर, डेविड, एवं केली, पॉल (संपा.). (2003). *पॉलिटिकल थिंकर्स : फ्रॉम सोक्रेटीस टू द प्रेज़ेंट* (*Political Thinkers: From Socrates to the Present*). न्यूयॉर्क: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

भाग-2

समाजवाद : मार्क्स एवं राममनोहर लोहिया

संरचना

4.12 कार्ल मार्क्स : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं समाजवादी चिंतन

4.13 मार्क्स का समाजवाद और पूँजीवाद की आलोचना

4.14 राममनोहर लोहिया : जीवन, ऐतिहासिक संदर्भ एवं समाजवादी विचार

4.15 लोहिया का समाजवाद और भारतीय समाज

4.16 मार्क्स और लोहिया : समाजवाद का तुलनात्मक अध्ययन

4.17 समाजवाद, वर्ग, जाति और सामाजिक परिवर्तन

4.18 समकालीन प्रासंगिकता

4.19 आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

4.20 तुलनात्मक सारणी

4.21 अभ्यास प्रश्न

4.22 संदर्भ-सूची

4.12 कार्ल मार्क्स : जीवन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं समाजवादी चिंतन

उन्नीसवीं शताब्दी का यूरोप गहरे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का युग था। औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन की संरचना, श्रम संबंधों और सामाजिक जीवन को मूलतः बदल दिया था। मशीन-आधारित उद्योगों के विस्तार ने उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि तो की, किन्तु इसके साथ ही श्रमिक वर्ग के शोषण, आर्थिक विषमता और सामाजिक असुरक्षा को भी जन्म दिया। पूँजीवादी व्यवस्था के विकास ने एक ओर औद्योगिक पूँजीपति वर्ग को अत्यधिक संपत्ति और शक्ति प्रदान की, दूसरी ओर विशाल श्रमिक समुदाय को असुरक्षित और अमानवीय परिस्थितियों में जीवन जीने के लिए बाध्य किया। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स का समाजवादी चिंतन विकसित हुआ।

कार्ल मार्क्स का जन्म 1818 में जर्मनी के ट्रियर में हुआ। उन्होंने बॉन और बर्लिन विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया, जहाँ वे जर्मन दर्शन, विशेषकर हेगेल के चिंतन से प्रभावित हुए। प्रारंभिक जीवन में मार्क्स का झुकाव दर्शन और पत्रकारिता की ओर था, किन्तु धीरे-धीरे उनका ध्यान आर्थिक संरचना, वर्ग-संबंधों और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की ओर केंद्रित होने लगा। फ्रेडरिक एंगेल्स के साथ उनका बौद्धिक सहयोग आधुनिक समाजवादी चिंतन के विकास में अत्यंत निर्णायक सिद्ध हुआ। मार्क्स का चिंतन केवल आर्थिक सिद्धांत नहीं है। यह इतिहास, समाज, राजनीति और मानव मुक्ति की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उनका उद्देश्य केवल पूँजीवाद की आलोचना करना नहीं था, बल्कि यह समझना भी था कि समाजों का ऐतिहासिक विकास किन शक्तियों द्वारा संचालित होता है और शोषण-मुक्त समाज की स्थापना किस प्रकार संभव हो सकती है।

मार्क्स का समाजवादी चिंतन मुख्यतः 'द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' (*The Communist Manifesto*), 'दास कैपिटल' (*Das Kapital*), 'द जर्मन आइडियोलॉजी' (*The German Ideology*) और 'क्रिटीक ऑफ द गोथा प्रोग्राम' (*Critique of the Gotha Program*) जैसी रचनाओं में विकसित होता है। इन ग्रंथों में वे पूँजीवाद की संरचना, वर्ग-संघर्ष, ऐतिहासिक परिवर्तन और समाजवादी समाज की अवधारणा का विश्लेषण करते हैं।

मार्क्स के चिंतन की केंद्रीय अवधारणा **ऐतिहासिक भौतिकवाद** (Historical Materialism) है। उनके अनुसार इतिहास का विकास मुख्यतः भौतिक उत्पादन संबंधों और आर्थिक संरचनाओं द्वारा निर्धारित होता है। समाज की आर्थिक व्यवस्था केवल उत्पादन का तरीका नहीं होती, बल्कि वही राजनीतिक संस्थाओं, विधि, धर्म और विचारधाराओं को भी प्रभावित करती है। मार्क्स इतिहास को वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। 'द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' (*The Communist Manifesto*) की आरंभिक पंक्ति है: : **"अब तक का समस्त इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।"**

इस कथन के माध्यम से मार्क्स यह स्पष्ट करते हैं कि समाज हमेशा शोषक और शोषित वर्गों में विभाजित रहा है। दास और स्वामी, सामंत और कृषक, तथा आधुनिक युग में पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग इसी संघर्ष के विभिन्न ऐतिहासिक रूप हैं।

पूँजीवाद की मार्क्सवादी आलोचना का केंद्र श्रम और पूँजी के संबंध में निहित है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति को बेचने के लिए बाध्य होता है। श्रमिक जितना मूल्य उत्पन्न करता है, उसे उसका पूरा प्रतिफल प्राप्त नहीं होता। उत्पादन से उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) पूँजीपति अपने नियंत्रण में रखता है। यही अतिरिक्त मूल्य पूँजीवादी लाभ और शोषण का आधार बनता है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद केवल आर्थिक असमानता उत्पन्न नहीं करता, बल्कि मानव जीवन को भी अमानवीय बना देता है। **'इकोनॉमिक एंड फिलॉसॉफिक मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844' (*Economic and Philosophic Manuscripts of 1844*)** में उन्होंने "विमुखता" (Alienation) की अवधारणा प्रस्तुत की। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक अपने श्रम, उत्पादन, प्रकृति और अंततः स्वयं अपनी मानवीय क्षमता से विमुख हो जाता है। श्रम रचनात्मक मानवीय गतिविधि न रहकर जीवित रहने की विवशता बन जाता है।

मार्क्स के लिए समाजवाद केवल आर्थिक पुनर्वितरण की व्यवस्था नहीं है। यह मानव मुक्ति की परियोजना है। वे ऐसी व्यवस्था की कल्पना करते हैं जहाँ उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व समाप्त हो जाए और वर्ग-विभाजन का अंत हो। समाजवाद उनके लिए वह संक्रमणकालीन अवस्था है जिसके माध्यम से वर्गहीन साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। पूँजीवाद को ऐतिहासिक रूप से आवश्यक व्यवस्था मानते हैं क्योंकि इसने उत्पादन शक्तियों का अभूतपूर्व विकास किया। किन्तु वे यह भी मानते हैं कि पूँजीवाद अपने भीतर ही ऐसे अंतर्विरोध उत्पन्न करता है जो अंततः उसके पतन का कारण बनेंगे। पूँजी का केंद्रीकरण, श्रमिकों का शोषण और आर्थिक संकट पूँजीवादी व्यवस्था को अस्थिर बनाते हैं।

मार्क्स का चिंतन आधुनिक समाजवादी आंदोलनों और श्रमिक राजनीति पर अत्यंत प्रभावशाली रहा। रूस, चीन, क्यूबा और अन्य देशों की समाजवादी क्रांतियों ने स्वयं को मार्क्सवादी परंपरा से जोड़ा। बीसवीं शताब्दी में ट्रेड यूनियन आंदोलन, श्रमिक अधिकार, कल्याणकारी राज्य और सामाजिक सुरक्षा संबंधी नीतियों पर भी मार्क्सवादी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु मार्क्स के चिंतन की आलोचनाएँ भी हुई हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मार्क्स ने आर्थिक कारकों को अत्यधिक महत्त्व दिया और संस्कृति, धर्म तथा पहचान की राजनीति जैसे तत्वों को पर्याप्त

महत्त्व नहीं दिया। इसके अतिरिक्त इतिहास की अनिवार्य दिशा और वर्ग-क्रांति संबंधी उनकी भविष्यवाणियाँ भी पूर्णतः सत्य सिद्ध नहीं हुईं।

बीसवीं शताब्दी में कई मार्क्सवादी राज्यों में राजनीतिक केंद्रीकरण और अधिनायकवाद की प्रवृत्तियाँ भी विकसित हुईं। आलोचकों ने प्रश्न उठाया कि क्या वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर राज्य की अत्यधिक शक्ति व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित कर सकती है। फिर भी आधुनिक राजनीतिक चिंतन में मार्क्स का महत्त्व अत्यंत व्यापक है। उन्होंने पहली बार आधुनिक पूँजीवाद की संरचना, श्रम के शोषण और आर्थिक शक्ति के राजनीतिक प्रभाव का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया। आर्थिक असमानता, श्रमिक अधिकार, कॉर्पोरेट पूँजी और वैश्विक पूँजीवाद पर समकालीन बहसों में मार्क्स की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

विशेष रूप से वैश्वीकरण और नव-उदारवाद के युग में, जहाँ आर्थिक विषमता लगातार बढ़ रही है, मार्क्स का पूँजीवाद संबंधी विश्लेषण पुनः महत्त्वपूर्ण हो उठा है। अस्थायी श्रम, बेरोजगारी, श्रमिक असुरक्षा और कॉर्पोरेट नियंत्रण जैसी समस्याएँ आधुनिक पूँजीवादी समाज के भीतर मौजूद अंतर्विरोधों की ओर संकेत करती हैं।

इस प्रकार कार्ल मार्क्स केवल समाजवादी विचारक नहीं, बल्कि आधुनिक समाज की संरचना के सबसे गहरे आलोचकों में से एक हैं। उनका समाजवादी चिंतन आर्थिक न्याय, वर्ग-संघर्ष और मानव मुक्ति की व्यापक वैचारिक परियोजना प्रस्तुत करता है, जिसने आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत और वैश्विक राजनीति दोनों को गहराई से प्रभावित किया।

4.13 मार्क्स का समाजवाद और पूँजीवाद की आलोचना

कार्ल मार्क्स का समाजवाद आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के रूप में जाना जाता है। मार्क्स स्वयं को उन प्रारंभिक समाजवादी विचारकों से अलग करते हैं जिन्हें वे **"काल्पनिक समाजवादी"** (Utopian Socialists) कहते हैं। सेंट-साइमन, फूरिये और ओवेन जैसे विचारकों ने आदर्श समाज की कल्पना तो की, किन्तु मार्क्स के अनुसार उन्होंने समाज के वास्तविक आर्थिक और ऐतिहासिक आधार का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया। मार्क्स का दावा था कि उनका समाजवाद नैतिक उपदेश या आदर्शवादी कल्पना पर नहीं, बल्कि इतिहास और अर्थव्यवस्था के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित है। मार्क्स के समाजवाद की केंद्रीय धारणा यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने भीतर ही ऐसे अंतर्विरोध उत्पन्न करती है जो अंततः उसके विघटन और समाजवादी व्यवस्था के उदय का मार्ग प्रशस्त करेंगे। समाजवाद उनके लिए केवल नैतिक रूप से बेहतर व्यवस्था नहीं है, बल्कि इतिहास की वस्तुगत प्रक्रिया का परिणाम है।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद की मूल संरचना उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व पर आधारित है। कारखाने, मशीनें, भूमि और पूँजी सीमित वर्गों के नियंत्रण में होती हैं, जबकि विशाल श्रमिक वर्ग केवल अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए विवश होता है। यही संबंध पूँजीवादी शोषण की आधारशिला है। मार्क्स की **अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value)** की अवधारणा पूँजीवाद की उनकी आलोचना का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है। श्रमिक उत्पादन की प्रक्रिया में जितना मूल्य उत्पन्न करता है, उसे उसके श्रम का पूरा प्रतिफल प्राप्त नहीं होता। श्रमिक को केवल इतना वेतन दिया जाता है जिससे वह जीवित रह सके और पुनः श्रम कर सके। उत्पादन से उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति अपने नियंत्रण में रखता है। यही अतिरिक्त मूल्य पूँजी संचय और लाभ का स्रोत बनता है।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था का विकास श्रमिक वर्ग के शोषण पर आधारित होता है। मार्क्स के अनुसार पूँजीपति और श्रमिक के बीच संबंध मूलतः विरोधात्मक है क्योंकि दोनों के हित परस्पर विपरीत हैं। पूँजीपति अधिकतम लाभ चाहता है, जबकि श्रमिक बेहतर मजदूरी और मानवीय परिस्थितियों की माँग करता है। यही संघर्ष वर्ग-संघर्ष

का आधुनिक रूप है।मार्क्स पूँजीवाद की केवल आर्थिक आलोचना नहीं करते, बल्कि उसके सामाजिक और मानवीय प्रभावों का भी विश्लेषण करते हैं। विमुखता (Alienation) की अवधारणा इसी संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक अपने श्रम के उत्पाद पर नियंत्रण नहीं रखता। जो वस्तु वह बनाता है, वह उसी से अलग हो जाती है और पूँजीपति के नियंत्रण में चली जाती है। धीरे-धीरे श्रमिक अपने श्रम से भी विमुख हो जाता है क्योंकि श्रम अब रचनात्मक मानवीय गतिविधि न रहकर केवल जीविका का साधन बन जाता है। वह अपने सहकर्मियों से प्रतिस्पर्धा करने लगता है और अंततः अपनी मानवीय क्षमता से भी कट जाता है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद मनुष्य को वस्तु (Commodity) में परिवर्तित कर देता है।

'दास कैपिटल' (*Das Kapital*) में मार्क्स पूँजीवाद की संरचना का अत्यंत गहन विश्लेषण करते हैं। वे बताते हैं कि पूँजीवादी उत्पादन निरंतर विस्तार और लाभ की खोज से संचालित होता है। पूँजीपति अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए मजदूरी घटाने, उत्पादन बढ़ाने और श्रम को अधिक नियंत्रित करने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप आर्थिक संकट उत्पन्न होते हैं क्योंकि उत्पादन की क्षमता तो बढ़ती जाती है, किन्तु श्रमिक वर्ग की क्रय-शक्ति सीमित रहती है।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद में आर्थिक संकट आकस्मिक नहीं हैं। वे उसकी संरचना के भीतर मौजूद अंतर्विरोधों का परिणाम हैं। पूँजीवाद उत्पादन को सामाजिक बनाता है, किन्तु लाभ का निजीकरण करता है। इसी कारण समाज के भीतर गहरी आर्थिक विषमता उत्पन्न होती है। मार्क्स का समाजवाद निजी संपत्ति के पूर्ण उन्मूलन की बात नहीं करता, बल्कि उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को समाप्त करने की बात करता है। वे व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुओं और पूँजीवादी संपत्ति में अंतर करते हैं। उनका उद्देश्य ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है जहाँ उत्पादन का नियंत्रण सामूहिक रूप से समाज के हाथों में हो।'**क्रिटीक ऑफ द गोथा प्रोग्राम' (*Critique of the Gotha Program*)** में मार्क्स समाजवाद और साम्यवाद के बीच अंतर स्पष्ट करते हैं। समाजवाद उनके लिए संक्रमणकालीन अवस्था है जिसमें राज्य और श्रमिक वर्ग पूँजीवादी संरचनाओं को समाप्त करने की प्रक्रिया में कार्य करते हैं। अंतिम लक्ष्य वर्गहीन और राज्यविहीन साम्यवादी समाज की स्थापना है।

मार्क्स के अनुसार साम्यवादी समाज में श्रम शोषण का साधन नहीं रहेगा, बल्कि रचनात्मक मानवीय गतिविधि बन जाएगा। उनका प्रसिद्ध सिद्धांत है–

"प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार।"

यह सिद्धांत केवल आर्थिक वितरण का सिद्धांत नहीं है, बल्कि मानव स्वतंत्रता और सहयोग पर आधारित समाज की कल्पना है। मार्क्स राष्ट्रवाद और धर्म की भी आलोचनात्मक व्याख्या करते हैं। वे धर्म को "जनता की अफीम" कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे केवल धर्म-विरोधी थे, बल्कि वे यह दिखाना चाहते थे कि धर्म कई बार शोषित वर्गों को वास्तविक सामाजिक परिवर्तन के बजाय सांत्वना प्रदान करता है। इसी प्रकार वे राष्ट्रवाद को भी वर्गीय संरचनाओं से अलग करके नहीं देखते।

फिर भी मार्क्स का चिंतन केवल विनाशकारी आलोचना नहीं है। वे आधुनिकता की उपलब्धियों को भी स्वीकार करते हैं। पूँजीवाद ने उत्पादन शक्तियों का विकास किया, वैज्ञानिक प्रगति को बढ़ावा दिया और सामंती बंधनों को तोड़ा। किन्तु मार्क्स का तर्क है कि यही पूँजीवाद अंततः ऐसी विषमताएँ उत्पन्न करता है जो उसके विरुद्ध संघर्ष को जन्म देती हैं।

मार्क्सवादी समाजवाद का प्रभाव बीसवीं शताब्दी की राजनीति पर अत्यंत व्यापक रहा। श्रमिक आंदोलनों, ट्रेड यूनियनों, समाजवादी दलों और उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों ने मार्क्सवादी विचारों से प्रेरणा प्राप्त की। यहाँ तक

कि पूँजीवादी लोकतंत्रों में भी श्रमिक अधिकार, न्यूनतम मजदूरी और कल्याणकारी राज्य जैसी व्यवस्थाएँ आंशिक रूप से समाजवादी दबावों का परिणाम थीं। किन्तु मार्क्सवादी प्रयोगों की आलोचना भी हुई। सोवियत संघ और अन्य समाजवादी राज्यों में राजनीतिक केंद्रीकरण और दमन की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। आलोचकों ने कहा कि वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो गया और व्यक्तिगत स्वतंत्रता सीमित हो गई।

इसके अतिरिक्त मार्क्स पर यह आलोचना भी की गई कि उन्होंने वर्ग को अत्यधिक केंद्रीय स्थान दिया और जाति, नस्ल, लिंग तथा सांस्कृतिक पहचान जैसी संरचनाओं को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया। यही वह बिंदु है जहाँ भारतीय संदर्भ में राममनोहर लोहिया का समाजवादी चिंतन मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या करता है। लोहिया यह तर्क देते हैं कि भारतीय समाज को केवल वर्गीय विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता क्योंकि यहाँ जाति स्वयं एक शक्तिशाली सामाजिक और आर्थिक संरचना है। इस प्रकार मार्क्स का समाजवाद आधुनिक पूँजीवाद की सबसे प्रभावशाली आलोचनाओं में से एक है। उन्होंने आर्थिक शक्ति, श्रम-शोषण और वर्गीय संरचना के माध्यम से आधुनिक समाज को समझने की नई पद्धति विकसित की। आज भी आर्थिक विषमता, कॉर्पोरेट पूँजी और श्रमिक असुरक्षा पर होने वाली बहसों में मार्क्सवादी विश्लेषण गहरी प्रासंगिकता बनाए हुए हैं।

4.14 राममनोहर लोहिया : जीवन, ऐतिहासिक संदर्भ एवं समाजवादी विचार

डॉ. राममनोहर लोहिया आधुनिक भारत के सबसे मौलिक समाजवादी चिंतकों में गिने जाते हैं। भारतीय समाजवाद की जिस धारा ने यूरोपीय मार्क्सवाद को भारतीय सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में पुनर्विचारित करने का प्रयास किया, उसमें लोहिया का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने समाजवाद को केवल आर्थिक संरचना के प्रश्न तक सीमित नहीं रखा, बल्कि जाति, भाषा, लिंग, संस्कृति, औपनिवेशिकता और लोकतंत्र जैसे प्रश्नों से जोड़कर देखा। इसी कारण उनका समाजवादी चिंतन भारतीय राजनीतिक सिद्धांत में विशिष्ट और मौलिक माना जाता है।

राममनोहर लोहिया का जन्म 1910 में उत्तर प्रदेश के अकबरपुर में हुआ। उनका राजनीतिक और बौद्धिक विकास भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में हुआ। वे प्रारंभ से ही औपनिवेशिक शासन-विरोधी राजनीति से जुड़े रहे। उच्च शिक्षा के लिए वे जर्मनी गए जहाँ उन्होंने अर्थशास्त्र और राजनीति का अध्ययन किया। यूरोप में रहते हुए वे समाजवादी और मार्क्सवादी विचारधाराओं से परिचित हुए, किन्तु उन्होंने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि यूरोपीय समाजवाद को भारतीय समाज की जटिल संरचना के अनुरूप पुनर्विचारित करना आवश्यक है।

लोहिया पर मार्क्स और गांधी दोनों का गहरा प्रभाव था। यही कारण है कि उनकी प्रसिद्ध रचना 'मार्क्स, गांधी एंड सोशलिज़्म' (*Marx, Gandhi and Socialism*) भारतीय समाजवादी चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मानी जाती है। लोहिया न तो शुद्ध मार्क्सवादी थे और न ही केवल गांधीवादी। उन्होंने दोनों परंपराओं के बीच संवाद स्थापित करने का प्रयास किया। लोहिया का चिंतन ऐसे समय में विकसित हुआ जब भारत स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ सामाजिक पुनर्गठन के प्रश्नों से भी जूझ रहा था। औपनिवेशिक शोषण के अतिरिक्त भारतीय समाज जातिगत पदानुक्रम, ग्रामीण निर्धनता, लैंगिक असमानता और भाषाई विभाजन जैसी समस्याओं से प्रभावित था। लोहिया का तर्क था कि भारतीय समाज को केवल वर्गीय विश्लेषण के आधार पर नहीं समझा जा सकता। यहाँ जाति स्वयं आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की संरचना का हिस्सा है।

यही वह बिंदु है जहाँ लोहिया मार्क्सवाद की आलोचनात्मक पुनर्व्याख्या करते हैं। मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को इतिहास की केंद्रीय शक्ति माना था, किन्तु लोहिया के अनुसार भारतीय समाज में जाति वर्ग से भी अधिक स्थायी और

जटिल संरचना रही है। इसलिए भारत में समाजवाद की परियोजना को जाति-विरोधी संघर्ष से अलग नहीं किया जा सकता।

लोहिया का समाजवाद **लोकतांत्रिक समाजवाद (Democratic Socialism)** की दिशा में विकसित होता है। वे केंद्रीकृत राज्य-सत्ता और अधिनायकवादी समाजवाद के आलोचक थे। सोवियत मॉडल के अत्यधिक केंद्रीकरण को वे समाजवादी आदर्शों के विरुद्ध मानते थे। उनके अनुसार समाजवाद का उद्देश्य केवल आर्थिक समानता स्थापित करना नहीं, बल्कि मनुष्य की स्वतंत्रता और सामाजिक भागीदारी को भी सुरक्षित करना है।

इस संदर्भ में लोहिया विकेंद्रीकरण पर विशेष बल देते हैं। वे ऐसी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था की कल्पना करते हैं जिसमें स्थानीय समुदायों और छोटे स्तर की संस्थाओं को अधिक शक्ति प्राप्त हो। उनका "चौखम्भा राज्य" (Four-Pillar State) का सिद्धांत इसी दिशा में महत्त्वपूर्ण है। इसके अंतर्गत ग्राम, जिला, प्रांत और केंद्र के बीच शक्ति का संतुलित वितरण प्रस्तावित किया गया।

लोहिया औद्योगिक आधुनिकता की आलोचना भी करते हैं। वे पश्चिमी पूँजीवादी और सोवियत दोनों मॉडलों में बड़े उद्योगों और केंद्रीकृत उत्पादन की प्रवृत्ति देखते हैं। इसके विपरीत वे "छोटी मशीन" (Small Machine) की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। उनका तर्क था कि भारत जैसे समाज में अत्यधिक केंद्रीकृत औद्योगिकीकरण बेरोजगारी और सामाजिक असमानता को बढ़ा सकता है। इसलिए उत्पादन की ऐसी पद्धति आवश्यक है जो स्थानीय रोजगार और सामाजिक संतुलन को बनाए रख सके।

लोहिया का समाजवाद केवल आर्थिक कार्यक्रम नहीं है। उसमें नैतिक और सांस्कृतिक आयाम भी उपस्थित हैं। वे समाजवाद को मनुष्य की गरिमा, स्वतंत्रता और सामाजिक समानता की व्यापक परियोजना के रूप में देखते हैं। इस संदर्भ में वे गांधी से प्रभावित दिखाई देते हैं। अहिंसा, विकेंद्रीकरण और नैतिक राजनीति के प्रश्न पर उनका चिंतन गांधीवादी तत्वों को आत्मसात करता है, जबकि आर्थिक असमानता और शोषण की आलोचना में वे मार्क्सवादी परंपरा से संवाद करते हैं।

लोहिया ने **"सप्त क्रांति" (Seven Revolutions) की अवधारणा भी प्रस्तुत की, जो उनके समाजवादी चिंतन की विशिष्ट विशेषता है। इन सात क्रांतियों में स्त्री-पुरुष समानता, जाति-विरोध, रंगभेद-विरोध, आर्थिक विषमता का विरोध, औपनिवेशिकता-विरोध और निजी जीवन की स्वतंत्रता जैसे प्रश्न शामिल थे।** इससे स्पष्ट होता है कि लोहिया समाजवाद को केवल वर्ग-संघर्ष तक सीमित नहीं रखते, बल्कि उसे बहुआयामी सामाजिक मुक्ति की परियोजना के रूप में देखते हैं।

लोहिया भाषा और संस्कृति के प्रश्न को भी अत्यंत महत्त्व देते हैं। वे अंग्रेजी प्रभुत्व की आलोचना करते हुए भारतीय भाषाओं के लोकतंत्रीकरण की बात करते हैं। उनके अनुसार भाषा केवल संचार का माध्यम नहीं, बल्कि शक्ति-संबंधों का भी प्रश्न है। यदि प्रशासन, शिक्षा और ज्ञान-उत्पादन सीमित भाषाई अभिजात वर्ग के नियंत्रण में रहेगा, तो लोकतंत्र अधूरा रहेगा।

लोहिया का समाजवाद भारतीय सामाजिक संरचना की जटिलता को समझने का प्रयास करता है। वे यह मानते हैं कि भारत में आर्थिक शोषण जाति, संस्कृति और सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रश्नों से अलग नहीं है। इसी कारण उनका चिंतन आधुनिक भारतीय समाजवादी राजनीति में अत्यंत प्रभावशाली रहा। पिछड़े वर्गों की राजनीति, सामाजिक न्याय और गैर-कांग्रेसी समाजवादी आंदोलनों पर लोहिया का गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

फिर भी लोहिया के चिंतन की आलोचनाएँ भी हुई हैं। कुछ विद्वानों का मत है that उनकी अवधारणाएँ कई बार अत्यधिक व्यापक और कार्यक्रमात्मक हो जाती हैं। मार्क्सवादी आलोचकों ने कहा कि लोहिया वर्गीय विश्लेषण

की वैज्ञानिक कठोरता से दूर चले जाते हैं। वहीं कुछ अन्य आलोचकों का मानना है कि उनका समाजवाद स्पष्ट आर्थिक संरचना प्रस्तुत नहीं कर पाता। इसके बावजूद भारतीय राजनीतिक चिंतन में लोहिया का महत्त्व अत्यंत व्यापक है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारतीय समाज को केवल यूरोपीय वर्गीय मॉडल के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। जाति, भाषा, संस्कृति और लैंगिक संबंधों को समाजवादी विश्लेषण का हिस्सा बनाना उनकी मौलिक देन थी। आज के भारत में सामाजिक न्याय, विकेंद्रीकरण, भाषाई लोकतंत्र और आर्थिक असमानता पर जो बहसें चल रही हैं, उनमें लोहिया का चिंतन पुनः प्रासंगिक हो उठा है। विशेष रूप से जाति और वर्ग के अंतर्संबंध को समझने में उनका विश्लेषण आधुनिक भारतीय राजनीति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण बौद्धिक उपकरण प्रदान करता है।

4.15 लोहिया का समाजवाद और भारतीय समाज

राममनोहर लोहिया का समाजवाद भारतीय समाज की ऐतिहासिक और सामाजिक संरचना को केंद्र में रखकर विकसित हुआ। वे यह मानते थे कि यूरोपीय समाजवाद, विशेषकर मार्क्सवाद, आधुनिक औद्योगिक यूरोप की परिस्थितियों में विकसित हुआ था, जबकि भारतीय समाज की संरचना मूलतः भिन्न है। इसलिए यदि समाजवाद को भारत में सार्थक बनाना है, तो उसे भारतीय सामाजिक वास्तविकताओं के अनुरूप पुनर्विचारित करना होगा।

लोहिया की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे भारतीय समाज को **केवल वर्गीय संरचना के रूप में नहीं देखते**। उनके अनुसार भारत में जाति केवल सांस्कृतिक पहचान नहीं है, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्ति की संगठित व्यवस्था है। **इसी कारण वे मार्क्सवादी वर्ग-विश्लेषण को भारतीय संदर्भ में अपर्याप्त मानते हैं।** मार्क्सवादी परंपरा में समाज का मूल विभाजन पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच माना जाता है। लोहिया इस विश्लेषण को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते, किन्तु वे यह तर्क देते हैं कि भारत में जाति स्वयं उत्पादन-संबंधों और सामाजिक अवसरों को निर्धारित करती रही है। जाति केवल श्रम-विभाजन नहीं, बल्कि श्रमिकों का विभाजन भी है। इस प्रकार भारतीय समाज में आर्थिक शोषण और सामाजिक पदानुक्रम परस्पर गहराई से जुड़े हुए हैं।

यही कारण है कि लोहिया समाजवाद को जाति-विरोधी संघर्ष से जोड़ते हैं। उनके अनुसार यदि समाजवादी राजनीति जाति-प्रथा को चुनौती नहीं देगी, तो आर्थिक समानता की परियोजना अधूरी रह जाएगी। यहाँ लोहिया का चिंतन भारतीय समाजवादी परंपरा में एक मौलिक हस्तक्षेप प्रस्तुत करता है। वे यह स्पष्ट करते हैं कि भारत में सामाजिक क्रांति और आर्थिक क्रांति को अलग-अलग नहीं समझा जा सकता।

लोहिया **"पिछड़ा पावे सौ में साठ"** जैसे राजनीतिक सूत्रों के माध्यम से सामाजिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न को भी उठाते हैं। उनका तर्क था कि भारतीय लोकतंत्र में ऐतिहासिक रूप से वंचित समुदायों की भागीदारी सुनिश्चित किए बिना लोकतांत्रिक समानता वास्तविक नहीं हो सकती। इस प्रकार उनका समाजवाद केवल आर्थिक पुनर्वितरण तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सामाजिक शक्ति-संबंधों के पुनर्गठन की दिशा में आगे बढ़ता है। "पिछड़ा पावे सौ में साठ" राममनोहर लोहिया की सामाजिक प्रतिनिधित्व संबंधी राजनीति का अत्यंत प्रसिद्ध सूत्र था। इसका अर्थ था कि भारतीय समाज में ऐतिहासिक रूप से वंचित और "पिछड़े" समुदायों को सत्ता, शिक्षा, नौकरियों और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में लगभग 60% भागीदारी मिलनी चाहिए।

यहाँ "पिछड़ा" शब्द केवल आज के प्रशासनिक अर्थ में OBC तक सीमित नहीं था। लोहिया के व्यापक राजनीतिक संदर्भ में इसमें शामिल थे–

- पिछड़ी जातियाँ,

- दलित,
- आदिवासी,
- महिलाएँ,
- और अन्य सामाजिक रूप से वंचित समूह।

लोहिया का तर्क था कि भारतीय समाज की वास्तविक जनसंख्या-संरचना और सत्ता-संरचना में गहरा असंतुलन है। समाज का एक छोटा उच्चवर्णीय-शिक्षित वर्ग प्रशासन, शिक्षा, राजनीति और आर्थिक संसाधनों पर disproportionate नियंत्रण बनाए हुए है। इसलिए केवल "समान अवसर" की औपचारिक घोषणा पर्याप्त नहीं होगी। ऐतिहासिक असमानताओं को सुधारने के लिए "विशेष अवसर" (Special Opportunity) आवश्यक हैं।

इस संदर्भ में "सौ में साठ" केवल सांख्यिकीय नारा नहीं था। यह सामाजिक न्याय आधारित लोकतंत्र की राजनीतिक रणनीति थी। लोहिया का मानना था कि भारत में लोकतंत्र तभी वास्तविक होगा जब सत्ता-संरचना में सामाजिक आधार का विस्तार होगा।

यह विचार बाद की भारतीय राजनीति, विशेषकर–

- मंडल राजनीति,
- पिछड़ा वर्ग आंदोलन,
- सामाजिक न्याय दलों,
- और प्रतिनिधित्व की बहसों पर अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

यह वाक्यांश लोहिया की समाजवादी राजनीति और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी (संसोपा) के आंदोलनकारी नारों से जुड़ा हुआ है। व्यापक रूप से उद्धृत रूप था:

> "संसोपा ने बाँधी गाँठ,
> पिछड़ा पावे सौ में साठ।"

यह नारा 1960 के दशक में समाजवादी राजनीति के भीतर सामाजिक प्रतिनिधित्व की माँग के संदर्भ में लोकप्रिय हुआ।

यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि "पिछड़ा पावे सौ में साठ" कोई औपचारिक दार्शनिक सूत्र के रूप में लोहिया की किसी एक पुस्तक में व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित नहीं मिलता। यह मुख्यतः लोहियावादी समाजवादी राजनीति और सामाजिक न्याय आंदोलनों के माध्यम से लोकप्रिय हुआ राजनीतिक नारा था। विशेष रूप से संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी तथा उत्तर भारत की समाजवादी राजनीति में यह व्यापक रूप से प्रचलित हुआ।

यद्यपि इस सूत्र का वैचारिक आधार लोहिया की "विशेष अवसर" (Special Opportunity) संबंधी अवधारणा, जाति-विरोधी राजनीति और सामाजिक प्रतिनिधित्व के विचारों में स्पष्ट रूप से उपस्थित है, फिर भी अकादमिक दृष्टि से यह कहना अधिक उचित होगा कि यह लोहिया की राजनीति से विकसित लोकप्रिय राजनीतिक अभिव्यक्ति थी, न कि किसी एक ग्रंथ में प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादित औपचारिक सिद्धांत। इसी कारण गंभीर

शैक्षणिक लेखन में इस नारे का उल्लेख करते समय उसके राजनीतिक-संदर्भात्मक स्वरूप को स्पष्ट करना आवश्यक माना जाता है।

लोहिया का समाजवाद विकेंद्रीकरण पर आधारित है। वे केंद्रीकृत राज्य-सत्ता और विशाल नौकरशाही को लोकतंत्र के लिए खतरा मानते थे। उनका "चौखम्भा राज्य" का सिद्धांत इसी चिंता का परिणाम है। ग्राम, जिला, प्रांत और केंद्र के बीच शक्ति का संतुलन स्थापित करके वे ऐसी लोकतांत्रिक संरचना की कल्पना करते हैं जिसमें स्थानीय समाज की सक्रिय भागीदारी संभव हो सके।

यह दृष्टिकोण मार्क्सवादी केंद्रीकरण से भिन्न है। सोवियत मॉडल में राज्य उत्पादन और राजनीतिक शक्ति का मुख्य केंद्र बन गया था, जबकि लोहिया समाजवादी लोकतंत्र को स्थानीय स्वशासन और जनभागीदारी से जोड़ते हैं। इस दृष्टि से उनका चिंतन गांधीवादी विकेंद्रीकरण और समाजवादी समानता के बीच एक संवाद स्थापित करता है।

आर्थिक विकास के प्रश्न पर भी लोहिया की दृष्टि विशिष्ट है। वे पश्चिमी मॉडल के भारी औद्योगीकरण की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार भारत जैसे श्रम-प्रधान समाज में यदि केवल बड़े उद्योगों और मशीनों पर आधारित विकास को अपनाया जाएगा, तो बेरोजगारी और आर्थिक असमानता बढ़ेगी। इसलिए वे "छोटी मशीन" की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।

छोटी मशीन का अर्थ केवल तकनीकी विकल्प नहीं है। यह ऐसी आर्थिक दृष्टि है जिसमें उत्पादन स्थानीय स्तर पर, मानवीय श्रम की भागीदारी के साथ और अपेक्षाकृत विकेंद्रीकृत ढंग से संचालित हो। लोहिया आधुनिक तकनीक का पूर्ण विरोध नहीं करते, किन्तु वे ऐसी तकनीक चाहते हैं जो मनुष्य को विस्थापित करने के बजाय उसकी उत्पादक क्षमता को सशक्त बनाए।

लोहिया स्त्री-पुरुष समानता को भी समाजवादी राजनीति का अनिवार्य तत्व मानते हैं। उनकी "सप्त क्रांति" में लैंगिक समानता केंद्रीय स्थान रखती है। वे यह समझते थे कि पितृसत्ता केवल सांस्कृतिक समस्या नहीं, बल्कि शक्ति और संसाधनों के असमान वितरण की व्यवस्था भी है। इस प्रकार उनका समाजवाद वर्ग, जाति और लिंग के प्रश्नों को परस्पर जोड़ता है।

भाषा का प्रश्न भी लोहिया के चिंतन में विशेष महत्त्व रखता है। वे अंग्रेजी प्रभुत्व को भारतीय लोकतंत्र के लिए बाधक मानते थे। उनके अनुसार यदि शासन, न्याय और शिक्षा की भाषा ऐसी होगी जिसे समाज का अधिकांश हिस्सा समझ ही न सके, तो लोकतंत्र केवल अभिजात वर्ग तक सीमित रह जाएगा। इसलिए वे भारतीय भाषाओं को लोकतांत्रिक भागीदारी का माध्यम मानते हैं। यहाँ लोहिया का समाजवाद सांस्कृतिक लोकतंत्र की दिशा में भी विस्तारित हो जाता है। वे केवल आर्थिक समानता की बात नहीं करते, बल्कि ज्ञान और भाषा तक पहुँच की समानता को भी आवश्यक मानते हैं। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में इसे सांस्कृतिक शक्ति-संबंधों की आलोचना के रूप में भी देखा जा सकता है।

लोहिया औपनिवेशिकता और वैश्विक असमानताओं के प्रश्न पर भी विचार करते हैं। उनके अनुसार पूँजीवाद केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही शोषण नहीं करता, बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी असमान संबंध स्थापित करता है। विकसित और अविकसित देशों के बीच आर्थिक अंतर वैश्विक शक्ति-संरचना का परिणाम है। इस प्रकार उनका समाजवाद औपनिवेशिकता-विरोधी राजनीति से भी जुड़ जाता है। फिर भी लोहिया का समाजवाद केवल प्रतिरोध की राजनीति नहीं है। उसमें एक सकारात्मक नैतिक दृष्टि भी उपस्थित है। वे समाजवाद को मानव गरिमा, समानता

और स्वतंत्रता की ऐसी व्यवस्था के रूप में देखते हैं जिसमें सामाजिक संबंध अधिक मानवीय और लोकतांत्रिक बन सकें।

लोहिया की आलोचना यह कहकर की गई कि उनका समाजवाद कई बार अत्यधिक नैतिक और कार्यक्रमात्मक हो जाता है तथा आर्थिक संरचना के प्रश्न पर पर्याप्त स्पष्टता नहीं देता। कुछ मार्क्सवादी विचारकों ने यह भी कहा कि जाति पर अत्यधिक बल देने से वर्गीय विश्लेषण कमजोर पड़ जाता है। किन्तु आधुनिक भारतीय राजनीति के संदर्भ में लोहिया का महत्त्व अत्यंत गहरा है। उन्होंने यह समझाया कि भारत में लोकतंत्र और समाजवाद की चर्चा जाति, भाषा, लिंग और सामाजिक प्रतिनिधित्व के प्रश्नों से अलग नहीं की जा सकती। सामाजिक न्याय की समकालीन राजनीति, पिछड़े वर्गों के उभार और लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की बहसों में लोहिया की वैचारिक छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

इस प्रकार लोहिया का समाजवाद भारतीय समाज की बहुस्तरीय असमानताओं को समझने का प्रयास करता है। वे समाजवाद को केवल आर्थिक सिद्धांत नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और लोकतांत्रिक पुनर्गठन की व्यापक परियोजना के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

4.16 मार्क्स और लोहिया : समाजवाद का तुलनात्मक अध्ययन

कार्ल मार्क्स और राममनोहर लोहिया दोनों समाजवादी परंपरा के अत्यंत महत्त्वपूर्ण विचारक हैं, किन्तु उनके समाजवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विश्लेषण की पद्धति और सामाजिक प्राथमिकताएँ अलग-अलग हैं। मार्क्स का चिंतन उन्नीसवीं शताब्दी के औद्योगिक यूरोप की परिस्थितियों में विकसित हुआ, जबकि लोहिया का समाजवाद औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत की जटिल सामाजिक संरचना के संदर्भ में निर्मित हुआ। यही कारण है कि दोनों के समाजवाद में समानताओं के साथ-साथ गहरे वैचारिक अंतर भी दिखाई देते हैं।

दोनों विचारकों की समानता इस बात में है कि दोनों पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना करते हैं और आर्थिक तथा सामाजिक विषमता को मानव स्वतंत्रता के लिए बाधक मानते हैं। दोनों का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था की स्थापना है जिसमें शोषण और असमानता का अंत हो सके। फिर भी वे शोषण की प्रकृति और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को अलग-अलग ढंग से समझते हैं।

मार्क्स के समाजवाद की केंद्रीय अवधारणा वर्ग-संघर्ष है। उनके अनुसार इतिहास का विकास शोषक और शोषित वर्गों के संघर्ष द्वारा संचालित होता है। आधुनिक पूँजीवादी समाज में यह संघर्ष पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच केंद्रित हो जाता है। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखने वाला वर्ग आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का स्वामी बन जाता है, जबकि श्रमिक वर्ग शोषण का शिकार होता है। लोहिया मार्क्स के वर्गीय विश्लेषण को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, किन्तु वे यह तर्क देते हैं कि भारतीय समाज को केवल वर्ग-संघर्ष के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। भारत में जाति एक ऐसी सामाजिक संरचना है जिसने आर्थिक अवसरों, सामाजिक प्रतिष्ठा और राजनीतिक शक्ति को गहराई से प्रभावित किया है। इसलिए भारतीय समाजवाद को जाति-विरोधी संघर्ष से जोड़ना आवश्यक है।

यहीं लोहिया का समाजवाद मार्क्सवाद की भारतीय पुनर्व्याख्या के रूप में सामने आता है। मार्क्स के लिए वर्ग समाज की केंद्रीय विभाजन-रेखा है, जबकि लोहिया जाति और वर्ग दोनों को परस्पर अंतर्संबंधित मानते हैं। उनके अनुसार भारतीय समाज में कई बार जाति वर्ग से भी अधिक स्थायी और शक्तिशाली संरचना के रूप में कार्य करती है। मार्क्स का समाजवाद ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आधारित है। वे आर्थिक संरचना को समाज की मूल आधारशिला मानते हैं। राजनीतिक संस्थाएँ, धर्म, विधि और विचारधाराएँ आर्थिक संरचना से प्रभावित होती हैं।

लोहिया इस आर्थिक निर्धारणवाद को पर्याप्त नहीं मानते। वे संस्कृति, भाषा, जाति और लिंग को भी शक्ति-संबंधों की स्वायत्त संरचनाओं के रूप में देखते हैं।

यही कारण है कि लोहिया का समाजवाद अधिक बहुआयामी प्रतीत होता है। उनकी "सप्त क्रांति" की अवधारणा केवल आर्थिक विषमता तक सीमित नहीं है। उसमें जाति-विरोध, स्त्री-पुरुष समानता, रंगभेद-विरोध, औपनिवेशिकता-विरोध और निजी जीवन की स्वतंत्रता जैसे प्रश्न भी सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से लोहिया आधुनिक "intersectional" राजनीति के पूर्वगामी विचारकों में भी गिने जाते हैं, यद्यपि उन्होंने स्वयं इस शब्द का प्रयोग नहीं किया।

राज्य और सत्ता के प्रश्न पर भी दोनों विचारकों में अंतर दिखाई देता है। मार्क्स पूँजीवादी राज्य को वर्गीय प्रभुत्व का उपकरण मानते हैं। उनके अनुसार राज्य मूलतः शासक वर्ग के हितों की रक्षा करता है। समाजवादी क्रांति के माध्यम से सर्वहारा वर्ग राज्य-सत्ता पर नियंत्रण स्थापित करेगा और अंततः वर्गहीन समाज में राज्य स्वयं समाप्त हो जाएगा।

लोहिया अधिनायकवादी केंद्रीकरण के आलोचक थे। बीसवीं शताब्दी के सोवियत अनुभव ने यह दिखा दिया था कि समाजवाद के नाम पर राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो सकता है। इसलिए लोहिया विकेंद्रीकृत लोकतांत्रिक समाजवाद की वकालत करते हैं। उनका "चौखम्भा राज्य" का सिद्धांत स्थानीय स्वशासन और शक्ति-वितरण पर आधारित है।

यहाँ गांधी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। लोहिया का समाजवाद केवल राज्य-नियंत्रित अर्थव्यवस्था की परियोजना नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक भागीदारी और स्थानीय स्वायत्तता की भी परियोजना है। मार्क्स के समाजवाद में औद्योगिक आधुनिकता और बड़े पैमाने पर उत्पादन की स्वीकृति दिखाई देती है, जबकि लोहिया "छोटी मशीन" और विकेंद्रीकृत उत्पादन पर बल देते हैं।

आर्थिक विकास के प्रश्न पर भी दोनों में अंतर स्पष्ट है। मार्क्स बड़े उद्योगों और उत्पादन शक्तियों के विकास को ऐतिहासिक रूप से आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार पूँजीवाद स्वयं उत्पादन की ऐसी शक्तियाँ विकसित करता है जो आगे चलकर समाजवाद का आधार बनती हैं।

लोहिया अत्यधिक केंद्रीकृत औद्योगिकीकरण के सामाजिक परिणामों को लेकर अधिक चिंतित हैं। उनका मानना था कि भारत जैसे श्रम-प्रधान समाज में पश्चिमी औद्योगिक मॉडल बेरोजगारी और असमानता को बढ़ा सकता है। इसलिए वे ऐसी तकनीक और उत्पादन प्रणाली चाहते हैं जो स्थानीय समाज और श्रम की गरिमा को सुरक्षित रख सके।

क्रांति और परिवर्तन की प्रक्रिया पर भी दोनों का दृष्टिकोण अलग है। मार्क्स वर्ग-संघर्ष और क्रांतिकारी परिवर्तन पर बल देते हैं। उनके अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था का अंत ऐतिहासिक संघर्ष के माध्यम से होगा।

लोहिया लोकतांत्रिक समाजवादी परिवर्तन की दिशा में अधिक विश्वास रखते हैं। वे जनांदोलन, सामाजिक जागरूकता और लोकतांत्रिक राजनीति के माध्यम से समाजवादी परिवर्तन की कल्पना करते हैं। इस प्रकार उनका चिंतन संसदीय लोकतंत्र और समाजवादी राजनीति के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है।फिर भी दोनों विचारकों का साझा महत्त्व इस बात में है कि दोनों आधुनिक समाज की असमानताओं की गहरी आलोचना प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स आर्थिक शक्ति और पूँजीवादी शोषण की संरचना को उजागर करते हैं, जबकि लोहिया भारतीय समाज में जाति, भाषा और सामाजिक प्रतिनिधित्व की जटिलताओं को समाजवादी विमर्श के भीतर लाते हैं।

समकालीन भारत में जाति और वर्ग के अंतर्संबंध, आर्थिक विषमता, बेरोजगारी और सामाजिक न्याय की राजनीति को समझने में मार्क्स और लोहिया दोनों अत्यंत प्रासंगिक हैं। मार्क्स हमें पूँजीवादी संरचना और आर्थिक शक्ति की आलोचना का उपकरण प्रदान करते हैं, जबकि लोहिया यह समझाते हैं कि भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया जाति और सांस्कृतिक संरचनाओं से अलग नहीं हो सकती।

इस प्रकार मार्क्स और लोहिया का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि समाजवाद कोई एकरूपी विचारधारा नहीं है। विभिन्न ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों में समाजवाद की अवधारणा नए रूप ग्रहण करती है। मार्क्स आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद की संरचना का विश्लेषण करते हैं, जबकि लोहिया भारतीय समाज की बहुस्तरीय असमानताओं को समाजवादी चिंतन के केंद्र में स्थापित करते हैं। दोनों का संयुक्त अध्ययन आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में समाजवाद की व्यापक और बहुआयामी समझ विकसित करता है।

4.17 समाजवाद, वर्ग, जाति और सामाजिक परिवर्तन

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में समाजवाद का सबसे केंद्रीय प्रश्न सामाजिक और आर्थिक असमानता को समाप्त करने का रहा है। कार्ल मार्क्स और राममनोहर लोहिया दोनों इस उद्देश्य से जुड़े हुए हैं, किन्तु सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति और असमानता की संरचना को लेकर दोनों के विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है। विशेष रूप से भारतीय समाज के संदर्भ में वर्ग और जाति के संबंध का प्रश्न समाजवादी राजनीति की सबसे जटिल बहसों में से एक बन जाता है।

मार्क्स का विश्लेषण मुख्यतः वर्ग-संबंधों पर आधारित है। उनके अनुसार समाज की मूल संरचना उत्पादन संबंधों द्वारा निर्धारित होती है। जो वर्ग उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखता है, वही आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का स्वामी बन जाता है। पूँजीवादी समाज में यह विभाजन पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के रूप में सामने आता है। इसी कारण मार्क्स सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को वर्ग-संघर्ष के माध्यम से समझते हैं।

मार्क्स का यह विश्लेषण आधुनिक औद्योगिक यूरोप की परिस्थितियों में अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। श्रमिक आंदोलनों, ट्रेड यूनियनों और समाजवादी राजनीति ने वर्गीय शोषण के विरुद्ध व्यापक संघर्ष विकसित किए। किन्तु भारतीय समाज की संरचना यूरोपीय समाज से भिन्न थी। यहाँ आर्थिक संबंध केवल वर्गीय आधार पर संगठित नहीं थे, बल्कि जाति ने भी श्रम-विभाजन, सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति-संबंधों को गहराई से प्रभावित किया।

यहीं राममनोहर लोहिया का हस्तक्षेप अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। लोहिया यह तर्क देते हैं कि भारतीय समाज को केवल वर्गीय विश्लेषण के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। जाति केवल सांस्कृतिक पहचान नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक शक्ति की संगठित संरचना है। भारत में कई बार जाति स्वयं वर्गीय स्थिति को निर्धारित करती रही है। इस प्रकार आर्थिक शोषण और सामाजिक पदानुक्रम परस्पर अंतर्संबंधित हो जाते हैं। लोहिया का यह दृष्टिकोण भारतीय समाजवादी चिंतन में एक मौलिक परिवर्तन प्रस्तुत करता है। वे यह स्पष्ट करते हैं कि यदि समाजवाद केवल आर्थिक पुनर्वितरण तक सीमित रहेगा और जाति-व्यवस्था को चुनौती नहीं देगा, तो सामाजिक परिवर्तन अधूरा रहेगा। इस संदर्भ में उनका चिंतन डॉ. आंबेडकर की जाति-विरोधी राजनीति से भी संवाद स्थापित करता है, यद्यपि दोनों की राजनीतिक पद्धतियाँ अलग थीं।

भारतीय समाज में जाति और वर्ग का संबंध अत्यंत जटिल है। सभी आर्थिक रूप से निर्धन व्यक्ति समान जातीय स्थिति में नहीं होते, और सभी उच्च जातियों के लोग समान आर्थिक वर्ग से संबंधित नहीं होते। फिर भी ऐतिहासिक रूप से जाति ने शिक्षा, भूमि, प्रशासनिक अवसर और सामाजिक सम्मान तक पहुँच को प्रभावित किया। यही कारण है कि भारत में सामाजिक न्याय की राजनीति केवल वर्ग-संघर्ष की भाषा में विकसित नहीं हुई।

मार्क्सवादी परंपरा की आलोचना करते हुए कई भारतीय समाजवादी और दलित चिंतकों ने यह कहा कि पारंपरिक वर्गीय विश्लेषण भारतीय समाज की वास्तविकताओं को पर्याप्त रूप से नहीं समझ पाता। लोहिया इसी आलोचना को समाजवादी ढाँचे के भीतर विकसित करते हैं। वे जाति को केवल **"ऊपरी संरचना" (**Superstructure) नहीं मानते, बल्कि सामाजिक शक्ति की वास्तविक संरचना के रूप में देखते हैं। यहीं से सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा भी बदल जाती है। मार्क्स के लिए सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः उत्पादन संबंधों के परिवर्तन से जुड़ा हुआ है। वर्ग-संघर्ष के माध्यम से पूँजीवादी व्यवस्था का अंत होगा और समाजवादी समाज की स्थापना होगी।

लोहिया सामाजिक परिवर्तन को अधिक बहुस्तरीय प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। उनके लिए आर्थिक समानता आवश्यक है, किन्तु पर्याप्त नहीं। यदि जातिगत वर्चस्व, लैंगिक असमानता और सांस्कृतिक प्रभुत्व बने रहेंगे, तो समाजवादी परिवर्तन अधूरा रहेगा। इसीलिए उनकी "सप्त क्रांति" केवल आर्थिक क्रांति नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों के व्यापक पुनर्गठन की परियोजना है। समाजवाद और सामाजिक परिवर्तन के प्रश्न पर लोकतंत्र का मुद्दा भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है। बीसवीं शताब्दी के अनेक समाजवादी प्रयोगों में केंद्रीकृत राज्य-सत्ता और राजनीतिक दमन की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। सोवियत संघ और अन्य समाजवादी राज्यों में राज्य ने आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयास तो किया, किन्तु कई बार राजनीतिक स्वतंत्रता सीमित हो गई।

लोहिया इस प्रवृत्ति के आलोचक थे। वे लोकतांत्रिक समाजवाद की वकालत करते हैं जिसमें सामाजिक परिवर्तन जनभागीदारी और विकेंद्रीकरण के माध्यम से हो। इस दृष्टि से उनका समाजवाद भारतीय लोकतांत्रिक राजनीति से गहराई से जुड़ता है। समकालीन भारत में वर्ग और जाति का प्रश्न अभी भी अत्यंत प्रासंगिक है। आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण के बाद नई आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न हुई हैं, किन्तु जातिगत असमानताएँ समाप्त नहीं हुईं। शिक्षा, रोजगार, भूमि स्वामित्व और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्नों में जाति और वर्ग दोनों की भूमिका दिखाई देती है।

इसी कारण आधुनिक भारतीय राजनीति में सामाजिक न्याय, आरक्षण, प्रतिनिधित्व और आर्थिक समानता की बहसें परस्पर जुड़ी हुई हैं। मार्क्सवादी वर्गीय विश्लेषण आर्थिक संरचना को समझने में सहायता करता है, जबकि लोहिया का जाति-आधारित विश्लेषण भारतीय समाज की ऐतिहासिक संरचना को समझने का महत्त्वपूर्ण उपकरण प्रदान करता है। इस प्रकार समाजवाद, वर्ग, जाति और सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आधुनिक भारतीय राजनीतिक सिद्धांत की केंद्रीय बहसों में से एक है। मार्क्स और लोहिया का संयुक्त अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि सामाजिक परिवर्तन केवल आर्थिक संरचना बदलने का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों, शक्ति-संतुलन और सांस्कृतिक वर्चस्व के पुनर्गठन की प्रक्रिया भी है।

4.18 समकालीन प्रासंगिकता

इक्कीसवीं शताब्दी में वैश्वीकरण, नव-उदारवाद और तकनीकी पूँजीवाद के विस्तार ने विश्व राजनीति और अर्थव्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया है। मुक्त बाज़ार, निजीकरण और कॉर्पोरेट पूँजी के बढ़ते प्रभाव ने आर्थिक विकास की नई संभावनाएँ अवश्य उत्पन्न की हैं, किन्तु इसके साथ ही आर्थिक विषमता, श्रमिक असुरक्षा और सामाजिक असंतुलन की समस्याएँ भी बढ़ी हैं। इस संदर्भ में कार्ल मार्क्स और राममनोहर लोहिया दोनों का समाजवादी चिंतन पुनः प्रासंगिक प्रतीत होता है। मार्क्स की पूँजीवाद संबंधी आलोचना आज भी वैश्विक अर्थव्यवस्था को समझने में अत्यंत उपयोगी मानी जाती है। पूँजी का केंद्रीकरण, कॉर्पोरेट नियंत्रण, श्रमिक असुरक्षा और आर्थिक विषमता जैसी समस्याएँ आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर गहरे अंतर्विरोधों की ओर संकेत करती हैं। डिजिटल अर्थव्यवस्था और प्लेटफ़ॉर्म पूँजीवाद के युग में श्रम का स्वरूप बदल गया है, किन्तु अस्थायी रोजगार, अनुबंध आधारित श्रम और आर्थिक असुरक्षा की समस्याएँ अभी भी बनी हुई हैं।

वैश्विक स्तर पर कुछ सीमित कॉर्पोरेट समूहों के हाथों में संपत्ति और संसाधनों का संकेन्द्रण मार्क्स की उस चिंता को पुनः सामने लाता है कि पूँजीवाद आर्थिक शक्ति को सीमित वर्गों के हाथों में केंद्रित कर देता है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य, श्रमिक अधिकार और सामाजिक सुरक्षा संबंधी नीतियाँ भी आंशिक रूप से समाजवादी दबावों और मार्क्सवादी आलोचनाओं का परिणाम रही हैं। भारतीय संदर्भ में लोहिया का चिंतन विशेष रूप से प्रासंगिक बना हुआ है। आर्थिक विकास के बावजूद भारतीय समाज में जातिगत असमानता, सामाजिक बहिष्कार और प्रतिनिधित्व के प्रश्न अभी भी महत्त्वपूर्ण बने हुए हैं। सामाजिक न्याय की राजनीति, पिछड़े वर्गों का राजनीतिक उभार और प्रतिनिधित्व की बहसों में लोहिया की वैचारिक छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

लोहिया का विकेंद्रीकरण संबंधी चिंतन भी आज के लोकतंत्र के लिए महत्त्वपूर्ण है। अत्यधिक केंद्रीकरण और नौकरशाही नियंत्रण के बीच स्थानीय स्वशासन और सामुदायिक भागीदारी का प्रश्न पुनः महत्त्वपूर्ण हो उठा है। पंचायत राज, स्थानीय शासन और सहभागी लोकतंत्र की अवधारणाएँ लोहिया के विकेंद्रीकृत समाजवाद की दिशा में संकेत करती हैं।

समकालीन भारत में बेरोजगारी और कृषि संकट की समस्या भी अत्यंत गंभीर है। लोहिया की "छोटी मशीन" और श्रम-प्रधान विकास संबंधी अवधारणाएँ इस संदर्भ में पुनर्विचार योग्य प्रतीत होती हैं। अत्यधिक पूँजी-प्रधान विकास मॉडल कई बार रोजगार-विहीन विकास को जन्म देता है। लोहिया का चिंतन ऐसी आर्थिक संरचना की ओर संकेत करता है जिसमें उत्पादन और रोजगार के बीच संतुलन स्थापित किया जा सके।

लैंगिक समानता और सामाजिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर भी लोहिया का चिंतन आधुनिक संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। उनकी "सप्त क्रांति" की अवधारणा यह स्पष्ट करती है कि सामाजिक परिवर्तन केवल आर्थिक प्रश्न नहीं है, बल्कि लिंग, जाति, रंग और संस्कृति से भी जुड़ा हुआ है। समकालीन पहचान-आधारित राजनीति और सामाजिक न्याय आंदोलनों के संदर्भ में यह दृष्टि अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है। फिर भी आज की दुनिया केवल पारंपरिक औद्योगिक पूँजीवाद तक सीमित नहीं है। डिजिटल तकनीक, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डेटा नियंत्रण और वैश्विक वित्तीय पूँजी ने सत्ता और अर्थव्यवस्था के नए रूप उत्पन्न किए हैं। इस नई परिस्थिति में मार्क्स और लोहिया दोनों के विचारों की पुनर्व्याख्या आवश्यक है।

इसके बावजूद आर्थिक विषमता, सामाजिक अन्याय और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने बीसवीं शताब्दी में थे। इसी कारण मार्क्स और लोहिया दोनों का चिंतन समकालीन राजनीतिक सिद्धांत और सार्वजनिक नीति के लिए महत्त्वपूर्ण बौद्धिक आधार प्रदान करता है।

4.19 आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

कार्ल मार्क्स और राममनोहर लोहिया दोनों के समाजवादी चिंतन ने आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत को गहराई से प्रभावित किया है, किन्तु दोनों के विचार आलोचनाओं और सीमाओं से मुक्त नहीं हैं। किसी भी राजनीतिक सिद्धांत की आलोचनात्मक समझ के लिए उसकी सीमाओं और अंतर्विरोधों का विश्लेषण आवश्यक होता है।

मार्क्स के चिंतन की सबसे प्रमुख आलोचना आर्थिक निर्धारणवाद (Economic Determinism) के संदर्भ में की जाती है। अनेक आलोचकों का मत है कि मार्क्स ने आर्थिक संरचना को अत्यधिक केंद्रीय स्थान दिया और संस्कृति, धर्म, जाति, नस्ल तथा लैंगिक संबंधों जैसे तत्वों को पर्याप्त स्वायत्तता नहीं दी।इसके अतिरिक्त मार्क्स की यह धारणा कि पूँजीवाद अनिवार्य रूप से सर्वहारा क्रांति की ओर बढ़ेगा, ऐतिहासिक रूप से पूरी तरह सत्य सिद्ध नहीं हुई। अनेक पूँजीवादी लोकतंत्रों ने श्रमिक अधिकार, कल्याणकारी योजनाएँ और सामाजिक सुरक्षा संबंधी सुधारों के माध्यम से स्वयं को स्थिर बनाए रखा।

बीसवीं शताब्दी के समाजवादी राज्यों ने भी मार्क्सवाद की व्यावहारिक सीमाओं को उजागर किया। सोवियत संघ, चीन और अन्य समाजवादी व्यवस्थाओं में कई बार केंद्रीकृत राज्य-सत्ता और राजनीतिक दमन की प्रवृत्तियाँ विकसित हुई। आलोचकों ने कहा कि वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राजनीतिक बहुलवाद सीमित हो गए।

मार्क्सवादी राजनीति की एक और आलोचना यह है कि उसने कई बार वर्ग को इतना केंद्रीय बना दिया कि जाति, लिंग और सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न गौण हो गए। भारतीय समाज जैसे जटिल सामाजिक संदर्भ में यह सीमा विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देती है। राममनोहर लोहिया का चिंतन इन सीमाओं को संबोधित करने का प्रयास अवश्य करता है, किन्तु उनकी अपनी सीमाएँ भी हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि लोहिया का समाजवाद अत्यधिक कार्यक्रमात्मक और नारा-प्रधान हो जाता है। उनके कई राजनीतिक सूत्र वैचारिक रूप से प्रेरक तो हैं, किन्तु वे हमेशा स्पष्ट संस्थागत या आर्थिक ढाँचा प्रस्तुत नहीं करते।

मार्क्सवादी आलोचकों ने यह भी कहा कि लोहिया जाति के प्रश्न पर इतना बल देते हैं कि वर्गीय विश्लेषण की संरचनात्मक शक्ति कमजोर पड़ जाती है। दूसरी ओर कुछ आलोचक यह मानते हैं कि लोहिया का आर्थिक कार्यक्रम पर्याप्त स्पष्टता और व्यावहारिकता प्रस्तुत नहीं कर पाता।लोहिया की "छोटी मशीन" और विकेंद्रीकरण संबंधी अवधारणाओं की भी आलोचना हुई है। आलोचकों का मत है कि आधुनिक औद्योगिक और वैश्विक अर्थव्यवस्था में केवल लघु-स्तरीय उत्पादन के माध्यम से व्यापक आर्थिक विकास और तकनीकी प्रतिस्पर्धा संभव नहीं हो सकती।

राजनीतिक स्तर पर भी समाजवादी आंदोलनों का विखंडन उनकी सीमाओं को दर्शाता है। भारत में समाजवादी राजनीति अनेक गुटों और क्षेत्रीय शक्तियों में विभाजित होती चली गई। सामाजिक न्याय की राजनीति कई बार व्यापक समाजवादी परिवर्तन के बजाय केवल चुनावी प्रतिनिधित्व तक सीमित हो गई।

फिर भी इन आलोचनाओं के बावजूद मार्क्स और लोहिया दोनों का स्थायी महत्त्व बना हुआ है। मार्क्स ने आधुनिक पूँजीवाद की संरचना, आर्थिक शक्ति और श्रम-शोषण का गहरा विश्लेषण प्रस्तुत किया। लोहिया ने भारतीय समाज में जाति, भाषा और सामाजिक प्रतिनिधित्व की जटिलताओं को समाजवादी विमर्श के भीतर स्थान दिया।

दोनों विचारकों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने राजनीति को केवल सत्ता-संघर्ष के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे सामाजिक न्याय और मानवीय मुक्ति की परियोजना से जोड़ा। आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में आर्थिक विषमता, सामाजिक बहिष्कार और प्रतिनिधित्व के प्रश्न अभी भी केंद्रीय बने हुए हैं। इसी कारण मार्क्स और लोहिया दोनों का चिंतन समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में निरंतर प्रासंगिक बना हुआ है।

4.20 तुलनात्मक सारणी

आधार	कार्ल मार्क्स	राममनोहर लोहिया
ऐतिहासिक संदर्भ	औद्योगिक यूरोप और पूँजीवादी विकास	औपनिवेशिक एवं उत्तर-औपनिवेशिक भारत
प्रमुख चिंता	पूँजीवादी शोषण और वर्ग-संघर्ष	जाति, वर्ग और सामाजिक असमानता
समाजवाद की प्रकृति	वैज्ञानिक समाजवाद	लोकतांत्रिक एवं भारतीय समाजवाद

केंद्रीय अवधारणा	वर्ग-संघर्ष	जाति-वर्ग अंतर्संबंध
प्रमुख ग्रंथ	'दास कैपिटल' (*Das Kapital*), 'द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' (*The Communist Manifesto*)	'मार्क्स, गांधी एंड सोशलिज़्म' (*Marx, Gandhi and Socialism*), 'व्हील ऑफ हिस्ट्री' (*Wheel of History*)
समाज का मूल विभाजन	पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग	जाति, वर्ग और सामाजिक शक्ति-संबंध
इतिहास की व्याख्या	ऐतिहासिक भौतिकवाद	बहुआयामी सामाजिक विश्लेषण
पूँजीवाद पर दृष्टि	शोषणकारी और अंतर्विरोधपूर्ण व्यवस्था	आर्थिक एवं सामाजिक असमानता को बढ़ाने वाली व्यवस्था
शोषण का आधार	आर्थिक संरचना और निजी स्वामित्व	आर्थिक + जातिगत + सांस्कृतिक वर्चस्व
सामाजिक परिवर्तन का माध्यम	वर्ग-क्रांति	लोकतांत्रिक सामाजिक परिवर्तन
राज्य पर दृष्टि	राज्य शासक वर्ग का उपकरण	विकेंद्रीकृत लोकतांत्रिक संरचना
लोकतंत्र पर दृष्टि	पूँजीवादी लोकतंत्र की आलोचना	लोकतांत्रिक समाजवाद के समर्थक
आर्थिक मॉडल	बड़े पैमाने का औद्योगिक उत्पादन	छोटी मशीन और विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था
प्रतिनिधित्व	वर्गीय चेतना	सामाजिक न्याय और प्रतिनिधित्व
जाति पर दृष्टि	सीमित विश्लेषण	केंद्रीय सामाजिक संरचना
स्त्री प्रश्न	पूँजीवादी संरचना से जुड़ा प्रश्न	"सप्त क्रांति" में महत्त्वपूर्ण स्थान
धर्म पर दृष्टि	धर्म शोषण की वैचारिक संरचना	धर्म की सामाजिक भूमिका का आलोचनात्मक पुनर्विचार
वैश्विक दृष्टि	अंतरराष्ट्रीय सर्वहारा एकता	उपनिवेशवाद-विरोध और भारतीय संदर्भ
प्रमुख आलोचना	आर्थिक निर्धारणवाद, केंद्रीकरण	कार्यक्रमात्मक अस्पष्टता, आर्थिक मॉडल की सीमाएँ

समकालीन प्रासंगिकता	आर्थिक विषमता, कॉर्पोरेट पूँजीवाद	सामाजिक न्याय, जाति-वर्ग राजनीति, विकेंद्रीकरण

4.21 अभ्यास प्रश्न

1. कार्ल मार्क्स के समाजवादी चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
2. मार्क्स की पूँजीवाद संबंधी आलोचना का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. "इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. विमुखता (Alienation) की मार्क्सवादी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
5. राममनोहर लोहिया के समाजवादी चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
6. लोहिया ने भारतीय समाज को समझने में जाति को क्यों केंद्रीय माना? स्पष्ट कीजिए।
7. "भारतीय समाजवाद, यूरोपीय समाजवाद से भिन्न है।" लोहिया के संदर्भ में चर्चा कीजिए।
8. मार्क्स और लोहिया के समाजवादी चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
9. समाजवाद, वर्ग और जाति के संबंध का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
10. समकालीन भारत में मार्क्स और लोहिया की प्रासंगिकता का मूल्यांकन कीजिए।

4.22 संदर्भ-सूची

- कॉर्क, जिम. (1949). "जॉन ड्यूई, कार्ल मार्क्स एंड डेमोक्रेटिक सोशलिज़्म" (*John Dewey, Karl Marx, and Democratic Socialism*). *द एंटिऑक रिव्यू* (*The Antioch Review*), 9(4), 435–452।
- कुमार, अजय. (2010). "अंडरस्टैंडिंग लोहियाज़ पॉलिटिकल सोशियोलॉजी : इंटरसेक्शनैलिटी ऑफ कास्ट, क्लास, जेंडर एंड लैंग्वेज" (*Understanding Lohia's Political Sociology: Intersectionality of Caste, Class, Gender and Language*). *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (*Economic and Political Weekly*), 45(40), 64–70।
- टोलपाडी, आर. (2010). "कॉन्टेक्स्ट, डिस्कोर्स एंड विज़न ऑफ लोहियाज़ सोशलिज़्म" (*Context, Discourse and Vision of Lohia's Socialism*). *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (*Economic and Political Weekly*), 45(40), 71–77।
- लोहिया, राममनोहर. (1963). *मार्क्स, गांधी एंड सोशलिज़्म* (*Marx, Gandhi and Socialism*). हैदराबाद: नवहिंद प्रकाशन।
- लोहिया, राममनोहर. (1955). *व्हील ऑफ हिस्ट्री* (*Wheel of History*). इलाहाबाद: किटाब महल।
- मार्क्स, कार्ल एवं एंगेल्स, फ्रेडरिक. (1848/2002). *द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* (*The Communist Manifesto*). नई दिल्ली: पेंगुइन।
- मार्क्स, कार्ल. (1867/1990). *दास कैपिटल* (*Das Kapital*), खंड–1. लंदन: पेंगुइन क्लासिक्स।

- मार्क्स, कार्ल. (1844/2007). *इकोनॉमिक एंड फिलॉसॉफिक मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844* (*Economic and Philosophic Manuscripts of 1844*). न्यूयॉर्क: डोवर पब्लिकेशन्स।
- मार्क्स, कार्ल एवं एंगेल्स, फ्रेडरिक. (1846/1970). द *जर्मन आइडियोलॉजी* (*The German Ideology*). न्यूयॉर्क: इंटरनेशनल पब्लिशर्स।
- मार्क्स, कार्ल. (1875/2008). *क्रिटीक ऑफ द गोथा प्रोग्राम* (*Critique of the Gotha Program*). न्यूयॉर्क: वाइल्डसाइड प्रेस।
- स्टैनफील्ड, जे. आर. (1979). "मार्क्स' सोशल इकोनॉमिक्स : द थ्योरी ऑफ एलियनेशन" (*Marx's Social Economics: The Theory of Alienation*). *रिव्यू ऑफ सोशल इकॉनमी* (*Review of Social Economy*), 37(3), 295–312।
- हैरिस, ए. एल. (1948). "द सोशल फिलॉसफी ऑफ कार्ल मार्क्स" (*The Social Philosophy of Karl Marx*). *एथिक्स* (*Ethics*), 58(3), 1–42।
- वर्मा, वी. पी. (1954). "गांधी एंड मार्क्स" (*Gandhi and Marx*). द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस* (*The Indian Journal of Political Science*), 15(2), 115–133।

NOTES

NOTES

20CUS01654